

## गुणस्थान सिद्धांत : एक विवेचना

व्यावहारिक जगत में आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जैन दर्शन में 'गुणस्थान' शब्द व्यवहृत हुआ है। गुणस्थान द्वारा आत्म-विकास की स्थिति का दिग्दर्शन होता है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा मान्य प्राचीन आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है तथापि समवायांगसूत्र में सर्वप्रथम गुणस्थान के लिए 'जीवस्थान' शब्द प्रयुक्त हुआ है।<sup>1</sup> दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ समयसार में भी जीवस्थान को ही गुणस्थान कहा है।<sup>2</sup> आचार्य नेमिचन्द्र ने भी अपने ग्रंथ गोम्मटसार में जीवस्थान शब्द के स्थान पर 'जीव समास' शब्द का प्रयोग किया है।<sup>3</sup> शब्द रूप में 'जीवस्थान', 'गुणस्थान' कुछ भी कहलें, वस्तुतः ये सभी शब्द श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में जीव की चौदह अवस्थाओं का ही प्रतिपादन करते हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में चौदह गुणस्थानों के नाम एवं क्रम को लेकर कोई भिन्नता नहीं है।<sup>4</sup> दोनों परम्पराओं के अनुसार साधाक भावादि (शु) से चौदह गुणस्थानों पर उत्तरोत्तर आरोहण कर अपने परम लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर सकता है इसके विपरीत भावों की अशु)ता के कारण साधाक ऊपर के गुणस्थानों से पतित भी हो सकता है।

1. समवायांगसूत्रम् ङ्कटीकाकार-अभयदेवसूरिऋ, प्रका. सेठ माणकलाल चुन्नीलाल सेठ कान्तिलाल-चुन्नीलाल, अहमदाबाद, सन् 1938, पत्रंक 25, सूत्र 14/4
2. समयसार ङ्कआचार्य कुन्दकुन्दऋ सम्पा. पं. पन्नलाल जैन, प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, सन् 1982, गाथा 55
3. गोम्मटसार ङ्कजीवकाण्डऋ, सम्पा. ए.एन. उपाधये., प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, गाथा 9-10
4. दृष्टव्य है-  
ङ्कऋ समवायांगसूत्रम्, 14/14  
ङ्कऋ गोम्मटसार, गाथा 1-10  
ङ्कऋ मूलाचार, गाथा 1995-1996  
ङ्कऋ पंचसंग्रह ङ्कप्राकृतऋ 1/4-5

गुणस्थानों की तरतमता वस्तुतः कर्मों की विशु) एवं मन्दता पर

## गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/2

आधारित है। जिस आत्मा में जितने प्रगाढ़ कर्म का आवरण होता जाता है वह उतने ही निचले गुणस्थान में गमन करती है तथा जिस आत्मा में कर्मों का आवरण जितना कम होता जाता है वह उतने ही ऊपरी गुणस्थान पर समारूढ़ हो जाती है। इस प्रकार आत्मा और गुणस्थान का गहन संबंधा है। अतः प्रस्तुत आलेख में आत्म विकास की शृंखला को निर्देशित करने हेतु आत्मा की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या सहित चौदह गुणस्थानों का क्रमिक विवेचन किया जा रहा है।

### आत्मा शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ :

‘आत्मा’ शब्द ‘अत्’ धातु से निष्पन्न है। अत् सातत्य गमन अर्थक धातु है। सातत्य गमन शब्द से तीन अर्थ द्योतित होते हैं, यथा- १. गमनगति, २. गमन-ज्ञान और ३. गमन-प्राप्ति। अतः आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति होगी ‘अतति सततं गच्छति’ अथवा ‘सततं ज्ञानगुणोपलब्धिं करोति इति आत्मा’ अर्थात् जो सतत गमन करती है अथवा निरन्तर स्वकीय ज्ञानगुणों की उपलब्धि करती है, वह आत्मा है। यह आत्म तत्त्व शरीर में व्याप्त रहने पर भी निरन्तर गतिशील बना रहता है, इस कारण भी इसे सतत गमनशील बतलाया है। इसी प्रकार शरीर के अभाव में भी स्वस्वरूप में निरन्तर गति करने के कारण भी आत्मा को सतत गमनशील कहा जा सकता है। आशय यह है कि सशरीरी जीव में आत्मा की गति दो प्रकार की होती है- १. शारीरिक अवयवों में गति और २. निजस्वरूप रमणरूप गति। शारीरिक अवयवों में जो गति होती है, वह शरीर निर्माण एवं शरीर से संबंधित कार्यों के लिए होती है। शरीर एवं तद्गत विविधा नाडियों में गति करती हुई ज्ञान केन्द्र, निर्णायक केन्द्र, स्मृति केन्द्र, प्रकोष्ठ केन्द्र, सम्प्रेषण केन्द्र आदि विविधा केन्द्रों में पहुंचती हुई आत्मा का समीक्षण प्रज्ञा के माध्यम से अपने स्वयं के शाश्वत स्वरूप में रमण करने की दिशा में गतिशील हो जाना ही स्व स्वरूपरूप रमण गति है। अशरीरी आत्मा में भी निरन्तर स्वयं आनन्द रूप रमण गति होती है। अतः आत्मा सतत गमनशील है यह व्युत्पत्ति, सार्थक बन जाती है।

आत्मा की दूसरी व्याख्या करते हुए कहा है- ‘अतति सततं ज्ञानगुणोपलब्धिं करोति इति आत्मा’ अर्थात् जो ज्ञानगुणों की निरन्तर उपलब्धि करती है, वह आत्मा है। यहां ‘अत्’ धातु जो गमनार्थक है, वह ज्ञानार्थक भी है क्योंकि जितनी भी गत्यर्थक धातुएँ होती हैं, वे ज्ञानार्थक भी होती हैं। अतः नलितार्थ यह है कि ज्ञान द्वारा यथा शक्ति, यथा योग्य पदार्थों को जानने वाली आत्मा है।<sup>1</sup> आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंधा है इसलिए आत्मा का अस्तित्व रहने पर ज्ञान का अस्तित्व अवश्य ही रहता है। यही कारण है कि किसी भी

### गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/3

आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता है। नन्दीसूत्र में कहा है कि कर्मों का प्रगाढ़ आवरण रहने पर भी ज्ञान का अनन्तवाँ भाग सभी जीवों के सदैव उद्घाटित रहता है। इसलिए प्रत्येक जीव को सुख-दुःख की अनुभूति होती है।<sup>2</sup>

तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता उमास्वाति के अनुसार इस प्रकार आत्मा का उपयोग लक्षण घटित हो जाता है।<sup>3</sup> अतः निरन्तर ज्ञानगुणों की उपलब्धि करने के कारण आत्मा की दूसरी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या भी सार्थक हो जाती है।

स्पष्ट है आत्मा का लक्षण चैतन्य रूप है उसकी प्राप्ति हेतु गमन करने वाली आत्मा ही है इतर तत्त्व नहीं। इनके अतिरिक्त आत्मा शब्द की और व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की जा सकती हैं, यथा- जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की शक्तियों से सत्ता रूप में संपन्न है, वह आत्मा है अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण संपन्न उपयोग गुण वाली त्रिकालाबाधित आत्मा है। आत्मा सत् रूप होने से उसमें त्रिकालाबाधितता घटित होती है क्योंकि प्रत्येक सत् तत्त्व में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप तीनों अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं।<sup>4</sup> आत्मा में ये तीनों अवस्थाएँ इस प्रकार घटित होती हैं कि आत्मा का स्वयं का मौलिक स्वरूप सदैव अवस्थित रहने से उसमें ध्रुवता और पर्याय परिवर्तन की दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश घटित होता है। उदाहरणार्थ किसी भी व्यक्ति के पास स्वर्ण की डली है उसको गलाकर उसने जंजीर बनवा

1. तुलना हेतु दृष्टव्य है- स्थानांगसूत्रम् द्विप्रथमोभागऋ, टीका. श्री घासीलालजी म.सा. , प्रका. अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रे)ार समिति, राजकोट, पृष्ठ-16
2. “सर्व जीवा णं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागे णिच्चुग्घाडियो।  
जाहि पुण सो\*वि आवरिञ्जा देणं जीवो आजीवत्तं पावेञ्जा।”  
-नंदिसुत्तं, सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, सन् 1968, सूत्र 77, पृष्ठ 81
3. ‘उपयोगो लक्षणम्’  
-तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक पं. सुखलाल संघवी, प्रका. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, द्वि.सं. सन् 1952, सूत्र 2/8
4. ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’  
-तत्त्वार्थ सूत्र, 5/29

डाली। पुनः जंजीर को गलाकर उसने कड़ा बनावा लिया। इस प्रकार अब उसका डली का आकार भी नहीं रहा और जंजीर का आकार भी नष्ट हो गया लेकिन तीनों अवस्थाओं में स्वर्णत्व के मौलिक स्वरूप में कोई भेद नहीं है। वह जैसे

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/4

डली रूप में था जैसे ही जंजीर रूप में और जैसे ही अब कड़े के रूप में है। डली रूप पर्याय नष्ट होने पर तथा जंजीर रूप अथवा कड़े रूप पर्याय उत्पन्न होने पर भी स्वर्ण तत्त्व ध्रुव है।<sup>1</sup> इस प्रकार आत्मा की भिन्न-भिन्न शरीर रूप पर्याय उत्पन्न और नष्ट होने पर भी स्वस्वरूप ज्ञानादि पर्याय सदैव अवस्थित, ध्रुव, नित्य और शाश्वत रहती है।

यद्यपि ज्ञान गुण पर मिथ्यात्व आदि का आवरण आने पर स्वभाव दशा से विभाव दशा में रमण करने लगती है तथापि यह सर्वथा ज्ञान रहित उपयोग शून्य नहीं बनती। आत्मा की विभिन्न ज्ञानादि गुणों की तरतमता रूप अवस्था को जानने के लिए गुणस्थानों का स्वरूप जानना आवश्यक है। यहां गुणस्थानों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

### गुणस्थान की परिभाषा

गोम्मटसार जीवकाण्ड में गुणस्थान की परिभाषा करते हुए कहा है- 'दर्शनमोहनीयादि कर्मों का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें गुणस्थान कहते हैं।'<sup>2</sup>

गुणस्थान की परिभाषा एवं नाम निर्देश करते हुए समवायांगसूत्र में कहा है- 'कर्म विशुि) की गवेषणा उत्कर्ष-अपकर्ष का विचार करके जीव

1. द्रष्टव्य है-' प्रधवस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते पुः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मधयस्थताम्।'

~~पूर्वाकार परिक्षयस्तद् पराकारोदयस्तद् द्वया-~~

धारश्चेक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथा प्रत्यात्

-उद्धृत-षडदर्शन समुच्चय द्वआचार्य हरिभद्रः

सम्पा. डॉ.महेन्द्र कुमार जैन, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, सन् 1970, पृष्ठ 350

2. 'जेहिं दु लखिखज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।

जीवा ते गुणसण्णा णिद्धिवा सव्वदंस्सीहिं।।'

-गोम्मटसार, सम्पा. नेमिचन्द्र सि)न्त चक्रवर्ती, प्रका. परमश्रुत

प्रभावक मण्डल, अगास, पं.सं.सन् 1977, जीवकाण्ड, गाथा 8

के चौदह स्थान-गुणस्थान हैं, यथा १३ मिथ्यादृष्टि, १४ सास्वादन सम्यक् दृष्टि, १५ मिश्र दृष्टि, १६ अविरत सम्यक् दृष्टि, १७ देशविरत, १८ प्रमत्त संयत, १९ अप्रमत्त संयत, २० निवृत्ति बादर, २१ अनिवृत्ति बादर,

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/5

द्वि10ऋ सूक्ष्म सम्पराय, द्वि11ऋ उपशान्त मोह, द्वि12ऋ क्षीण मोह, द्वि13ऋ सयोगी केवलि और द्वि14ऋ अयोगी केवलि।<sup>1</sup>

गुणस्थान की परिभाषाओं एवं नाम निर्देश के पश्चात् अब पच्चीस अधिकारों द्वारा उनका विशद विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

### १. प्रथम अधिकार : गुणस्थान स्वरूप

गुणस्थान वस्तुतः जीवन विकास का वह मार्ग है जिसके द्वारा आत्मा क्रमिक विकास करती हुई अन्तिम मंजिल मोक्ष मार्ग तक पहुंच जाती है और अपने अंतिम लक्ष्य का वरण कर लेती है। किस-किस गुणस्थान में कैसे-कैसे विकास होता है इसको जानने के लिए सभी गुणस्थानों का यथाक्रम से स्वरूप प्रदर्शित करते हैं-

### १. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप

जो जीव अरिहंत देव, मोक्ष मार्ग के आराधाक निर्ग्रन्थ गुरु और केवलि प्ररूपित धर्म पर परिपूर्ण श्र)। नहीं करता, वह मिथ्यात्वी कहलाता है।<sup>2</sup> ऐसे जीव को चैतन्य एवं जड़ की अवस्थाओं का परिपूर्ण विवेक नहीं होता अतः उसकी दृष्टि विपरीत होती है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रही हुई आत्मा सम्यक् मार्ग को खोजने के प्रति किंकर्तव्यविमूढ़ होती है। आध्यात्मिक धर्म कार्य के प्रति उसका सम्यक् श्र)। समन्वित आकर्षण नहीं होता। वह अज्ञान से संपृक्त रहती है और उस अज्ञान संपृक्त आत्मा के लिए मिथ्यात्व अवस्था में ज्ञान प्राप्त करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार भयंकर अंधोरी रात्रि के समय सघन अंधाकार

1. “कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवठाणा पण्णत्ता, तंजहा-मिच्छदिठी, सासायण-सम्मदिठी सम्मामिच्छादिठी अविरयसम्मदिठी, विरयाविरण, पमत्तसंजण, अप्पमत्तसंजण, निअठीबायरे, अनिअटिबायरे, सुहुम-संपराए-उवसामए वा खवए वा, उवसन्तमोहे, खीणमोहे, सजोगी केवली, अजोगी केवली।”

-समवायांगसूत्र, 14/14

2. आचार्य नानेश-जिणधम्मो, प्रका. समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इन्दौर प्र.सं. 1974, पृ. 423

युक्त कमरे में अपरिचित वस्तु को खोजना। मिथ्यादृष्टि आत्मा की दृष्टि मिथ्यात्व के कारण इतनी भ्रामक बन जाती है कि वह अज्ञान को भी ज्ञान और असत्य को भी सत्य मान लेती है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/6

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब मिथ्यात्वी जीव अज्ञान परिपूर्ण है तथा वह सत्य मार्ग पर गमन नहीं करता है तब उसके मिथ्यात्व को गुणस्थान रूप क्यों कहा गया है ? इसके समाधान स्वरूप अनुयोगद्वारसूत्र में एक कथन उपलब्ध है वहाँ कहा गया है कि मिथ्यादर्शनलब्धिया, मति अज्ञानलब्धिया, श्रुत अज्ञानलब्धिया आदि क्षयोपशम से उत्पन्न होती है।<sup>1</sup> इस प्रकार मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक भाव में होने से मिथ्यात्व को भी गुणस्थान रूप कहा गया है।

क्षायोपशमिक लब्धियाजन्य होने पर भी मिथ्यात्व गुणस्थान में रहा हुआ जीव आत्म-विकास की श्रेणी पर आरूढ़ नहीं होता है। अतः भगवान ने मिथ्यात्व का परित्याग करने का उपदेश दिया है। इसी कारण प्रत्येक साधक आवश्यक द्धप्रतिक्रमणत्रु करते समय यह संकल्प करता है-

“मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि।”<sup>2</sup>

अर्थात् मैं मिथ्यात्व का त्याग करता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ।

### मिथ्यादृष्टि के परिणाम

मिथ्यात्वी आत्मा के अज्ञान संयुक्त अशुभ परिणाम, कर्मों के प्रगाढ़ बन्धान में सहायक बनते हैं। अतः उनके ज्ञानगुण पर गहरा आच्छादन छा जाता है। अतः ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी उसकी सम्यक्

1. “खओवसमिआ मइ अण्णाणल)ी, खओवसमिआ सुय अण्णाणल)ी, खओवसमिआ विभंगणाणल)ी, खओवसमिआ चक्खुदंसणल)ी, खओवसमिआ अचक्खु-दंसणल)ी, ओहिदंसणल)ी एवं सम्मदंसणल)ी, मिच्छादंसणल)ी, सम्ममिच्छादंसणल)ी एवं पण्डियवीरियल)ी, बालवीरियल)ी बाल-पण्डियवीरियल)ी, खओवसमिआ, सोइन्दियल)ी जाव, खओवसमिआ पासेन्दियल)ी।”

-अनुयोगद्वाराणि द्धटीकाकार-मल्लधारी हेमचन्द्र सूरिऋ

प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, सन् 1924, पत्रक 119, सूत्र 126

2. आवश्यकसूत्रम्, टीकाकार श्री घासीलालजी म.सा., प्रका. अ. भा. श्वे. स्था.

जैन शास्त्रे)र समिति, राजकोट, द्वि.सं, 1958, पृष्ठ 269, सूत्र 22

रूप में अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जैसे-जब किसी आत्मा का शरीर के अवयवों के साथ, बाहरी वेशभूषा के साथ अथवा धान-धान्यादि परिग्रह के साथ अत्यधिक आसक्ति रूप लगाव हो जाता है तब आत्मा परस्वरूप में रमण करने लगती

है। इस प्रकार के परिवर्तन से आत्मिक अध्यवसाय विभाव से अनुरजित हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप परभाव के रमण करती हुई आत्मा, अशुभ कर्म के दलिकों को दूधा पानी की तरह स्वयं के साथ संयुक्त कर लेती है। निरन्तर परभावों में रमण से मिथ्यात्व मोह की जड़ें गहरी होती चली जाती है। ग्लतः मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय का जब तीव्र उदय होता है और उसके पश्चात् मिथ्यात्व का उदय होता है तो उत्कृष्ट स्तर कोटाकोटि सागरोपम मिथ्यात्व मोह का और उसके साथ-साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मों का विविध उत्तर प्रकृतियों सहित प्रगाढ़बन्धा हो सकता है।<sup>1</sup> यह बन्धा अग्नि और लोह की तरह आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाता है जिससे आत्मा सद्गुणों की विवेक प्रज्ञा को धूमिल कर देती है। यही मिथ्याज्ञान या अज्ञान आत्मा के स्वाभाविक गुणों को विभाव दशा में रमण कराने के कारण मिथ्यात्व की संज्ञा को प्राप्त होता है।<sup>2</sup> यद्यपि ज्ञान संबंधी गतिशीलता यहां भी निरन्तर बनी रहती है तथापि परभावों के साथ आसक्ति पूर्वक उसका संबंध होने से वह अज्ञान रूप में भाषित होती है। इन परभावों में रमण करने के कारण आत्मा को अयथार्थ बोधा होने लगता है।<sup>3</sup> इस कारण मौलिक स्वरूप भी विस्मृत बन जाता है और आत्मादि तत्त्वों की व्याख्या भी वह सही तरीके से नहीं कर पाता। यद्यपि मिथ्यात्वी जीव भी गाय को गाय, भैंस को भैंस और बैल को बैल कहता है तथापि उसका यह कहना भी मिथ्यात्व की कोटि में आता है। इसका कारण यह है कि वह गाय को गाय कहता हुआ भी उसका वास्तविक स्वरूप समझ नहीं पाता है क्योंकि कार्य सत्य, कारण सत्य, स्वरूप सत्य और संबंधा सत्य आदि को जाने बिना वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और मिथ्यादृष्टि कारण विपर्यय, कार्य

1. “सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते यत् सबन्धाः।

स च प्रकृति स्थिति प्रदेशानुभावभेदात् चतुर्विधाः। अथवा

ब्रह्मते बन्धोनिगडबिधिः भावतो कर्मणा इति॥”

—स्थानांगसूत्रम् छटीकाकार अभयदेवसूरिऋ, प्रका. सेठ माणकलाल

चुन्नीलाल, सेठ कान्तीलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, पत्रंक 14, सूत्र 1/9

2. जिणधम्मो, पृष्ठ 391

3. वही, पृष्ठ 391-422

विपर्यय, स्वरूप विपर्यय और संबंधा विपर्यय इनमें से किसी भी विपर्यय अथवा सभी विपर्ययों का प्रतिपादन करने वाला होता है। विपर्ययों के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु यहाँ इन विपर्ययों की कुछ विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है—

### द्विःकारण विपर्यय

जिस वस्तु का निर्माण जिस कारण से हुआ है उसको उसी रूप में कारण नहीं मानना कारण विपर्यय है। यथा-कुम्भकार मिटी के घड़े का निर्माण करता है। घड़ा बनाने में मिटी उपादान कारण है क्योंकि वही घट रूप कार्य में परिणत होती है। कुम्भकार निमित्त कारण है क्योंकि वह घट रूप कार्य का सम्पादन करता है। सहयोगी कारण चाक, चीवर आदि हैं जिनके सहयोग से घड़ा बनता है। इस प्रकार यहाँ घड़े का उपादान कारण मिटी है किन्तु ब्रह्म रूप चैतन्य को घड़े का उपादान कारण मानना उपादान कारण विपर्यय है क्योंकि घट रूप जड़ पदार्थ का ब्रह्मरूप चैतन्य आत्मा- उपादान कारण नहीं हो सकती।

### द्विःकार्य विपर्यय

जड़ तत्त्वों के समूह से चैतन्य आत्मा का निर्माण नहीं हो सकता किन्तु उनके सहयोग से चैतन्य का निर्माण मानना कार्य विपर्यय है।

### द्विःस्वरूप विपर्यय

ज्ञानवान्, उपयोगवान् आत्मा को जड़ रूप मानना और जड़ तत्त्वों को अथवा उससे निर्मित पदार्थों को चैतन्य रूप मानना स्वरूप विपर्यय है।

### द्विःसंबंधा विपर्यय

आत्मा का शरीर के साथ संयोग संबंधा है, फिर भी इन दोनों का तादात्म्य संबंधा मानना संबंधा विपर्यय है।

पूर्व में प्रतिपादित गाय के दृष्टान्त में गाय को गाय मानता हुआ भी मिथ्यादृष्टि अपने स्वकल्पित सि)तों के कारण अथवा वस्तु स्वरूप के ज्ञान के अभाव के कारण मिथ्यात्व की कोटि से बच नहीं सकता और उस मिथ्यात्वी को मिथ्यात्व का आवरण रहते यदि कोई वस्तु स्वरूप का ज्ञान भी कराएँ तो भी उसको वह रुचिकर नहीं लगता। जैसे-पित्तज्वर वाले व्यद्रि को मधुर रस भी अच्छा नहीं लगता वैसे ही मिथ्यात्वी आत्मा को सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारिः रूप यथार्थ धर्म भी अच्छा नहीं लगता है।

### मिथ्यात्व के भेद

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद हैं- द्विः अनादि अनन्त, द्विः अनादि सान्त और द्विः सादि सान्त।<sup>1</sup> इनमें से अनादि अनन्त मिथ्यात्व अभव्य एवं जाति भव्य जीव को होता है इस कारण वह जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अनादि सान्त अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों का होता है



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/9

तथा सादि सान्त मिथ्यात्व उच्च गुणस्थान से पतित होकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आये हुए जीव को होता है। स्थानांगसूत्र में विवेक विकलता की अपेक्षा से मिथ्यात्व के दस भेदों का निरूपण इस प्रकार हुआ है-<sup>2</sup>

- द्ध1ऋ अधार्म में धार्म बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध2ऋ धार्म में अधार्म बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध3ऋ मार्ग में अमार्ग बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध4ऋ अमार्ग में मार्ग बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध5ऋ अजीव में जीव बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध6ऋ जीव में अजीव बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध7ऋ असाधु में साधु बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध8ऋ साधु में असाधु बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध9ऋ अमुक्त में मुक्त बुि) रखना मिथ्यात्व।
- द्ध10ऋ मुक्त में अमुक्त बुि) रखना मिथ्यात्व।

#### द्ध11ऋ अधार्म में धार्म बुि) रखना

प्रभु महावीर ने श्रुत और चारिः धार्मरूप अहिंसा, संयम और तप को लोकोत्तर धार्म बतलाया है।<sup>3</sup> लेकिन कोई व्यद्रि बाल-तपस्वी के बाल तप को

1. कर्मग्रंथ द्धव्याख्याकार श्री मिश्रीलाल जी म.सा.ऋ, प्रका. मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, द्वि.सं. सन् 1980 भाग 2, पृष्ठ 14
2. “दसविहे मिच्छते पण्णत्ते तंजहा- अधाम्मे धाम्मसण्णा, धाम्मे अधाम्मसण्णा, उम्मग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा।”  
-स्थानांगसूत्रम्, पत्रक 487, सूत्र 10/734
3. “दुविहो धाम्मो लोगुत्तरियो, सुयधाम्मो खलु चरित्त धाम्मो य।  
सुयधाम्मो सज्झाओ, चरित्त धाम्मो समण धाम्मो।”  
-दशवैकालिकसूत्रम् द्धटीकाकार-हरिभद्रसूरिऋ, प्रका. देवचंद लालभाई जैन पुस्तको)र संस्था, पृष्ठ 1018

लोकोत्तर तप मानकर, उसे भगवान की आज्ञा में मानकर उस क्रिया करने वाले को मोक्ष मार्ग का आराधाक बतलाए तो वह अधार्म में धार्म बुि) रखना है।

औपपातिकसूत्र में बाल तपस्वी के तप को मोक्ष मार्ग का किंचित भी कारण नहीं माना है। वहां कहा गया है कि जो जीव द्धबाल तपस्वीऋ असंक्लिष्ट

परिणाम से हाडी-खोडा बन्धानादि के दुःख सहकर बारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं, वे मोक्ष मार्ग के आराधाक नहीं होते।<sup>1</sup> आचार्य श्री जवाहर लाल जी म.सा. ने भी अपनी स)र्ममण्डनम् नामक पुस्तक में बाल तपस्वी की विस्तृत चर्चा की है।<sup>2</sup>

### द्धरऋ धार्म में अधार्म बुि) रखना

भगवान ने विधोयात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार की अहिंसा को धार्मरूप प्ररूपित किया है। प्रत्येक प्राणी की हिंसा नहीं करना निषेधात्मक

1. “से जे इमे गामागार णयर-णिगम रायहाणि-खेड-कब्बड मंडव दोग-मुह-पटनासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति, तं जहा- अंडुब)का णियलब)का हडिब)का, चारगब)का.....गिरिपडिअका, तरूपडिअका, मरूपडियका, गिरिपक्खंदोलिया, तरूपक्खंदोलिया, मरूपक्खंदोलिया, जलपवेसिका .....ते कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु वाणमन्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। तहिं तेसिं गति, तहिं तेसिं ठिती, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णवत्ता ?

गोयमा ! बारसवास- सहस्साईं ठिती पण्णत्ता।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी वा, जुइ वा, जसे ति वा, बले ति वा, वीरिए इ वा, पुरिसकारपरक्कमे इ वा ?

हंता अत्थि।

ते णं भंते देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो तिण्ठे सम्भे।”

-औपपातिकसूत्रम् ढ्ढटीकाकार-अभयदेवसूरिऋ, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत सन् 1926, पत्रक 86, सूत्र 38/6

2. बाल तपस्वी के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है- आचार्य जवाहर, स)र्ममण्डनम्, प्रका. जवाहर साहित्य समिति, भीनासर, द्वि.सं. सन् 1966, पृष्ठ 16-23

अहिंसा है तथा हिंसक द्वारा हिंसा किये जाने वाले प्राणी की यथाशक्ति रक्षा करना या उसमें श्र)I रखना विधोयात्मक अहिंसा है।<sup>1</sup> अहिंसा के इन दोनों रूपों को अपनाना ही वास्तविक अहिंसा धार्म है लेकिन यदि कोई इन दोनों रूपों में से किसी एक रूप को अपनाये और दूसरे को छोड़ दे तथा ऐसी प्ररूपणा करे कि हिंसा नहीं करना धार्म है किन्तु हिंसक द्वारा हिंसा किये जाने वाले प्राणी की रक्षा करना अधार्म है तो यह प्ररूपणा धार्म में अधार्म बुि) रखना है।

वस्तुतः अहिंसा के विधोयात्मक और निषेधात्मक इन दोनों पक्षों को

मानने पर ही अहिंसा शब्द की परिपूर्ण व्याख्या घटित होती है क्योंकि अहिंसा शब्द न् समास से बना है। यथा-न हिंसा अहिंसा। न् समास में न् दो तरह का होता है- ६१ऋ पर्युदास और ६२ऋ प्रसज्यक। इसमें पर्युदास न् सदृशग्राही होने से उसमें तद्भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है तथा प्रसज्यक न् निषेधा अर्थ का ग्राहक होता है।<sup>2</sup> अतः पर्युदास न् की अपेक्षा से अहिंसा

1. ६कऋ “जावति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।

तं जाणमजाणं वा, ण हणे णो वि घायए॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं, न मरिज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥”

-दशवैकालिकसूत्रम् ६टीकाकार-घासीलालजी म.सा.ऋ

प्रका. अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रे)र समिति, राजकोट,

द्वि.सं. सन् 1960, भाग 2, पत्रक 13-14, गाथा 10-11

६खऋ “स्वपरानुग्रहार्थमर्थिनेदीयत इति दानमेकघा तेषां मघये जीवानां जीवितार्थिनां  
त्रणकारित्वादभयप्रदानं श्रेष्ठम्॥” तदुक्तम्

“दीयते म्रियमाणस्स कोटिं जीवितमेव वा।

धानकोटिं न गृहणीयात् सार्वो जीवितुमिच्छति॥”

-सूत्रतांगसूत्रम् ६टीकाकार- आचार्य शीलांकऋ, प्रका. आगमोदय समिति,  
सूरत, सन् 1917, पत्रक 14

2. “द्वौ नौ तु समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ।

पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधाकृत्॥

प्राधान्यं तु विधोर्यत्र, प्रतिषेधो \*प्रधानता।

पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रेत्तर-पदेन न्॥

अप्राधान्यं विधोर्यत्र, प्रतिषेधो प्रधानता।

प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र न्॥

प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र न्॥”

उद्धृत-भूषणसार-धात्वर्थप्रकरणम् ६व्याख्याकार-श्यामाचरण त्रिपाठीऋ

प्रका. ज्ञान प्रकाशन, बीकानेर, सन् 1988, श्लोक 1-3

का अर्थ होगा-हिंसा से मारे जाते हुए प्राणी को बचाना तथा प्रसज्यक न् की अपेक्षा से अहिंसा का अर्थ होगा- हिंसा नहीं करना। इस कथन को एक दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जैसे-कोई सम्राट अपने दीवान को आदेश देता है ‘अब्राह्मणमानय’ अर्थात् अब्राह्मण को लाओ। दीवान सम्राट का आदेश सुनकर पत्थर लाकर कहता है ‘लीजिए हुजूर, यह अब्राह्मण लाया हूँ।’

सम्राट कहता है- ‘मूर्ख ! यह अब्राह्मण नहीं है। अब्राह्मण का तात्पर्य है ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण सदृश कोई मनुष्य। अतः ऐसे किसी क्षत्रियादि अब्राह्मण

को लाओ।' इसी प्रकार पर्युदास ने समास युक्त अहिंसा का तात्पर्य हिंसा पूर्वक मारे जाते हुए प्राणी की यथाशक्य रक्षा करना। इस प्रकार की रक्षा रूप अहिंसा को भगवान ने धर्म माना है और प्रभु ने सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा के लिए ही प्रवचन ररमाया है।<sup>1</sup> सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने हेतु प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझने का उपदेश देते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा है- 'जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा तुल्य समझता है, सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, आश्रव का निरोधा करता है, उसके पापकर्म का बन्धा नहीं होता है।'<sup>2</sup> यहां सर्वप्रथम सभी जीवों को स्व आत्मतुल्य समझने और तत्पश्चात् आश्रव निरोधा करने का उपदेश दिया गया है। सभी जीवों को स्व आत्मतुल्य तभी समझा जा सकता है जबकि हम स्वयं की तरह उनकी भी प्राण रक्षा में सहायक बनें। इस प्रकार पहले प्राण रक्षा अहिंसा मूलक विधि रूप प्रवृत्ति करना चाहिए तत्पश्चात् आश्रव निरोध रूप निषेधात्मक अहिंसा की प्रवृत्ति करना चाहिए। नीतिकारों ने भी इसी प्रकार की अहिंसा को महत्त्व देते हुए कहा है 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् अपने प्रतिकूल आचरण दूसरों के लिए भी मत करो क्योंकि जो कार्य स्वयं के लिए घातक एवं आर्त्तध्यान बढ़ाने वाला है, वह अन्यो के लिए भी वैसा ही घातक होगा। उदाहरणार्थ- कोई बलवान पुरुष तीक्ष्ण चमचमाती तलवार लेकर एक व्यक्ति से बोले-'मैं तुझे मारना चाहता हूँ क्योंकि

1. "सर्व्व जग-जीव रक्खणदमठाते पावयणं भगवया सुकहियं"  
-प्रश्नव्याकरणसूत्रम् ढ्ढटीकाकार-अभयदेवसूरिऋ, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, सन् 1919, पत्रंक 100, सूत्र 22
2. "सर्व्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।  
पिहिआसव्वस्स दंतस्स, पावकम्मं न बंधाइ।।"  
-दशवैकालिकसूत्रम् ढ्ढटीकाकार- घासीलाल जी म.सा.ऋ भाग 1, पृष्ठ 298, सूत्र 4/9

इस तीक्ष्ण तलवार से मारे जाने पर तुम स्वर्ग में जाओगे' तो क्या कोई व्यक्ति इस प्रकार मरकर स्वर्ग में जाना चाहेगा ? कतई नहीं। वह सोचेगा यदि इस समय कोई बचाने वाला आ जाए तो मेरी रक्षा हो सकती है और संयोगवश उस समय कोई शक्ति संपन्न व्यक्ति आ जाये तो मरने वाले की कातर निगाहें उसी की ओर देखती रहेगी, मानों वह कातर निगाहों से प्रार्थना कर रहा है कि मारने वाले को वह शक्ति संपन्न पुरुष बोले 'अरे ! तू इसको मत मार।' कल्पना कीजिये यदि वह शक्ति संपन्न पुरुष उस मरने वाले को बचाने के लिए कुछ भी नहीं बोलता है वरन् चुपचाप खड़ा रहता है तो क्या मरने वाला उसे दयावान कहेगा

? नहीं, उसे तो कोई भी दयावान नहीं कह सकता, सभी उसे निर्दयी ही कहेंगे। सै)ातिक दृष्टि से भी वह परिपूर्ण अहिंसक नहीं है। प्रभु महावीर ने कहा है कि सभी आत्माओं को स्व आत्म तुल्य समझो।<sup>1</sup> जैसा आचरण स्वयं को अच्छा नहीं लगता दूसरों के प्रति भी मत करो। वह शक्ति संपन्न व्यक्ति भी ऐसा आचरण नहीं करता है क्योंकि यदि उस समय उसको कोई मारने वाला आ जाए तो वह अपने आपको बचाने का हर संभव प्रयास करेगा। अतः वह अपने आपको बचाने और दूसरों को नहीं बचाने के कारण 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का आचरण नहीं कर पाता।

इस प्रकार जो अहिंसा की विधा रूप प्रवृत्ति प्राणियों की रक्षा करने को धर्म नहीं मानता, वह धर्म में अधर्म बुि) रखने वाला है।

### द्धइरुअमार्ग में मार्ग बुि) रखना

सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरिः मोक्ष का मार्ग है,<sup>2</sup> इसके विपरीत मिथ्याज्ञान दर्शनादि मोक्ष का मार्ग नहीं है। इसी कारण सूकृतांगसूः में भी मिथ्यात्वजन्य तप को मोक्ष मार्ग का कारण नहीं माना है।<sup>3</sup> अतः मिथ्याज्ञानादि को मोक्ष का मार्ग मानना अमार्ग में मार्ग बुि) रखना है।

1. सूकृतांगसूः द्ढटीकाकार-आचार्य शीलांकः, पत्रक 287, गाथा 1/10/3
2. द्ढकः 'सम्यक् दर्शन ज्ञान चारिःण मोक्षमार्ग('
  - तत्त्वार्थ सूः, 1/1
  - द्धखः "नाणं च दंसणं चेव, चरिःं च तवो तथा !  
एस मग्गो ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहीं।।"
  - उत्तराधयनसूः द्ढआचार्य नेमिचन्द विरचित सुखबोधावृत्ति सहितः,  
प्रका. दिव्य दर्शन ट्रस्ट, बंबई, पृष्ठ 212, गाथा 28/2
3. "जय वि य णिगणे किसे चरे, जइ विय भुजिय मासमंतसो।  
जे इह मायाइ पिज्जई, आगंता गब्भायणंतसो।।"

### द्धरुअमार्ग में अमार्ग बुि) रखना

भगवान् ने सुपाः दान को मोक्ष का मार्ग कहा है। इसके विपरीत कोई श्रावक अथवा सम्यक् दृष्टि को कुपाः बतलाकर उसे दिये गये दान को अमार्ग बतलाए तो यह मार्ग में अमार्ग बुि) रखना है। जैसे-एक श्रमणभूत-साधु की तरह आचरण करने वाला प्रतिमाधारी श्रावक प्रतिमा को साधाता हुआ बेले-बेले पारणा करता है। संयोगवश वह श्रावक अपनी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञानुसार बारह त्रत धारी श्रावक के यहां बेले के पारणे हेतु गोचरी के लिए जाए उस समय

वह बारह व्रतधारी श्रावक प्रतिमाधारी श्रावक को अपने यहां आया हुआ देखकर सोचे कि मैं उत्कृष्ट सुपात्र साधु को दान देने की भावना से थाली में भोजन लेकर बैठा हूँ वो तो नहीं आए कोई बात नहीं श्रावक भी मध्यम सुपात्र होता है।<sup>1</sup> अतः श्रावक को दान देकर अपने कर्मों की निर्जरा करूँ, ऐसा सोचकर प्रतिमाधारी श्रावक को दान देने वाला श्रावक सुपात्रदान के लाभ को अर्जित करे तो ज्ञानीजन इस संबंधा में कहते हैं कि सुपात्रदान देता हुआ जीव कर्मों का क्षय करता है और यदि उस समय उसमें उत्कृष्ट दान देने की भावना हो जाए तो वह तीर्थकर गौत्र का भी बंधा कर सकता है।<sup>2</sup> किन्तु यदि कोई साधु के अतिरिक्त सभी को कुपात्र मानें और श्रावकादि को दान देने में लौकिक कर्तव्य मानकर एकान्त पाप मानें तो वह जिनवचन के विपरीत प्ररूपणा करता हुआ मार्ग में अमार्ग बुद्धि रखता है।

#### द्विः अजीव में जीव बुद्धि रखना

जीव उपयोग लक्षण वाला है।<sup>3</sup> परमात्मा भी चैतन्य रूप है<sup>4</sup> किन्तु जड़

1. द्विकः स्थानांगसूत्र, स्थान 4  
द्विकः भगवतीसूत्र, 20/8  
-उद्धृत- स)र्मण्डनम्, पृष्ठ 135
  2. ज्ञाताधार्मिकथासूत्र में तीर्थकर गौत्र के बंधा के बीस कारण बतलाए हैं उनमें से पन्द्रहवाँ कारण 'चियाए' बतलाया है। टीकाकार ने उसका अर्थ 'त्यागेन च यतिजनोचित दानेन' किया है। अर्थात् त्याग से यतिजनोचित प्रासूक दान से तीर्थकर नाम गौत्र का बंधा होता है। द्रष्टव्य है- ज्ञाताधार्मिकथांगसूत्र द्विटीकाकार अभयदेवसूरिकः पत्रक 121-123
  3. 'उपयोग लक्षणम्'  
-तत्त्वार्थसूत्र, 2/8
  4. द्विकः षड्दर्शन समुच्चय, कारिका 45-46  
द्विकः उत्तराध्ययनसूत्र द्विआचार्य नेमिचंद्रसूरि विरचित सुखबोधावृत्ति सहितः अधययन 36, गाथा 66-67
- रूप तत्त्व को परमात्मा मानकर उसमें चैतन्य की बुद्धि रखना अजीव में जीव बुद्धि रखना है।

#### द्विः जीव में अजीव बुद्धि रखना

आत्मा शरीर से भिन्न तत्त्व है।<sup>1</sup> किन्तु यदि कोई जीव यह माने कि आत्मा शरीर से अभिन्न है, वह जड़ भौतिक तत्त्वों से बनी है तथा शरीर के नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है<sup>2</sup> तो यह जीव में अजीव बुद्धि रखना

है। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि में जीव नहीं मानना जीव में अजीव बु) रखना है।<sup>3</sup>  
**द्व०३ असाधु में साधु की बु) रखना**

प्रभु महावीर ने पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति के पालक को साधु कहा है।<sup>4</sup> दशवैकालिकसूत्र में साधु का आचार निरूपण करते हुए उसकी अहिंसक वृत्ति का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि समाधिवाण् संयमी साधु सचित्त पृथ्वी, भित्ति, शिला, मिट्टी के ढले आदि का तीन करण, तीन योग से भेदन नहीं करे।<sup>5</sup> संयमी साधु शीत, ओले, वर्षा, हिमादि के सचित्त जल का तीन करण, तीन योग से सेवन न करें किन्तु वर्ण, गन्धा, रस,

1. षड्दर्शन समुच्चय, कारिका 48-49
2. षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ठ 215-245
3. “जीवेषु पृथिव्यादिष्वजीवसंज्ञा, यथा न भवन्ति पृथिव्यादयो जीवा  
उच्छासादीनां प्राणिधामाणामनुपलम्भाद् घटवदिति।”  
-स्थानांगसूत्रम् द्वटीकाकार- अभयदेवसूरिः
4. द्वकः “रोइअ नायपुत्तवयणे अत्तसमे मज्जिज्ज छप्पिकाए।  
पंच य गसे महव्वयाइं पंचासवसंवरे जे स भिक्खु।।”  
-दशवैकालिकसूत्रम् द्वटीकाकार- घासीलालजी म.सा.ः भाग 2,  
गाथा 10/5, पृष्ठ 257  
द्वखः उत्तराध्ययनसूत्रम् द्वआचार्य नेमिचंद विरचित सुखबोधावृत्ति सहितः  
अध्ययन 24, पृष्ठ 202-203
5. द्वकः “पुढविं भित्ति सिलं लेलुं नेवं भिंदे न संलिहे।  
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए।”  
दशवैकालिकसूत्रम्, टीकाकार आ. घासीलालजी म.सा. भाग 2,  
गाथा 8/4, पृष्ठ 123  
द्वखः तुलना हेतु द्रष्टव्य है- वही, गाथा 10/2

स्पर्श परिवर्तित धोवन या उष्ण जल का सेवन करें।<sup>1</sup> संयमी साधाक अंगार, अग्नि, चिनगारी एवं अलात अग्नि-जलती हुई लकड़ी की अग्नि को तीन करण, तीन योग से न जलाए, न बुझाए न परस्पर घर्षण करें।<sup>2</sup> इससे स्पष्ट है कि विद्युत भी बादल तेजस्काय युक्त है।<sup>3</sup> अतः साधु को विद्युत संचालित पंखे, माईक, एयर कण्डीशनर, कूलर, टेलीविजन आदि-आदि का भी तीन करण, तीन योग से सेवन नहीं करना चाहिए। दशवैकालिकसूत्र में कहा है संयमी साधाक ताड़ के पंखा, वृक्ष के पत्तों, शाखाओं इत्यादि से अपने शरीर अथवा बाह्य पुद्गलों की तीन करण, तीन योग से हवा नहीं करे।<sup>4</sup> इस प्रकार आगमों में जहां ताड़ के पंख

आदि से भी हवा करने का निषेधा किया गया है वहां विद्युत संचालित पंखों, कूलरों, एयरकण्डीशनरों आदि से हवा करने का निषेधा तो स्वतः ही प्रकृतिलित है। संयमी साधाक तृण, वृक्ष, ऋल एवं मूल द्भजदृत्र का दोहन तीन करण, तीन योग से न करें तथा सचित्त बीजों के सेवन की मन से भी चाह नहीं करें।<sup>5</sup> मुनि मन, वचन तथा कायरूप से त्रस प्राणियों की हिंसा नहीं करे। इस प्रकार सर्व प्रकार की हिंसा से तीन करण, तीन योग से उपरत मुनि समस्त प्राणियों को स्वात्म तुल्य देखे।<sup>6</sup>

1. द्भकऋतु "सीओदगं न सेविज्जा, सिलानुटं हिमाणी या।  
उसिणोदगं तक्तासुयं, पडिगाहिज्ज संजए॥"  
वही- गाथा 8/6
2. द्भखऋतु तुलना हेतु द्रष्टव्य है- वही, गाथा 10/2  
द्भकऋतु "इंगाल अगणिं" अच्चिं अलायं वा संजोइयं।  
नउंजेज्जा न घटेज्जा, नो णं निव्वावए मुणी॥"  
-दशवैकालिकसूत्रम्, आ. श्री घासीलाल जी म.सा., भाग 2,  
गाथा 8/8

---

- द्भखऋतु तुलना हेतु द्रष्टव्य है- वही, गाथा 10/2
3. जिणधम्मो, पृष्ठ 653-662
4. "तालियंटेण पत्तेण, साहाए विहुणेण वा।  
न वीइज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वावि पुगलं॥"  
-दशवैकालिकसूत्रम् भाग 2, गाथा 8/9
5. "तणरूक्खं न छिंदिज्जा, ऋल मूलं व कस्सइ।  
आमगं विविहं बीयं, मणसा वि न पत्थए॥"  
-वही, गाथा 8/10
6. "तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मणा।  
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं॥"  
-दशवैकालिकसूत्रम् भाग 2, गाथा 8/12

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अहिंसा मूलक आचरण करने वाला ही साधु है किन्तु कोई साधु मकान, धर्मशाला आदि बनवाने का उपदेश देकर पृथ्वीकाय का आरंभ-समारंभ करता है, 'जल के कुएं आदि खुदवाओं, ऐसा कहकर अप्काय का आरंभ-समारंभ करता है। विद्युत संचालित पंखा, कूलर, एयरकण्डीशनर, टेलीविजन आदि का उपयोग कर जो तेजस्काय का आरंभ-समारंभ करता है। पंखे आदि की हवा का उपयोग कर अथवा खुले मुंह बोलकर जो वायुकाय का आरंभ-समारंभ करता है। 'वनस्पति, ऋल-ऋल लाओ' इत्यादि हिंसात्मक वचन बोलकर जो वनस्पतिकाय का आरंभ-समारंभ करता है,



वह एक काया का आरंभ-समारंभ करता हुआ भी षडूकाय जीवों का आरंभ-समारंभ करता है।<sup>1</sup> ऐसा अणुगार वेशधारी व्यक्ति भी भगवान महावीर एवं अनन्त तीर्थंकरों के कथानुसार साधु नहीं है, उसे साधु कहना असाधु में साधु की बु) रखना है।<sup>2</sup>

### द्व८८ऋ साधु में असाधु की बु) रखना

जो पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का निर्दोष पालन करते हैं उनको यह कहना कि आप युगीन परिवेश के अनुसार नहीं बदलते, समयानुसार अपने महाव्रतों में कोई परिवर्तन नहीं करते इसलिए आप अच्छे साधु नहीं हैं। युगीन परिवेश के अनुसार महाव्रतों में परिवर्तन नहीं करने वाला साधु नहीं- किसी व्यक्ति का ऐसा विचार करना साधु में असाधु की बु) रखना है।

### द्व९८ऋ अमुक्त में मुक्त बु) रखना

जो राग-द्वेषादि से लिप्त है, उनको परमात्मा मानना।<sup>3</sup> तथा उनको कर्मादि रहित समझना अमुक्त में मुक्त बु) रखना है।<sup>4</sup>

1. वही, गाथा 6/26-45
2. “असाधुषु षड्जीवनिकायवधा निवृत्तेष्वौद्देशिकादिभोजिष्वब्रह्मचारिषु साधु संज्ञा यथा साधाव एते सर्वे पापप्रवृत्ता अपि ब्रह्मामुद्राधारित्वादित्यादि विकल्परूपेति।” -स्थानांगसूत्रं द्दटीकाकार- अभयदेवसूरिऋ, सूत्र 10/734-738, पृष्ठ, 487
3. “ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम।  
गत्वा गच्छन्ति भूयो\*पि भवं तीर्थनिकारतः।”  
उद्धृत-षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ठ 308
4. अमुक्तेषु सर्वकर्मसु लोकव्यापारप्रवृत्तेषु मुक्त संज्ञा यथा- अणिमाद्यष्टविधं प्राप्यैश्वर्यं कृत्विनः सदा।  
मोदन्ते निवृत्तात्मनस्तीर्णाः परमदुस्तरम्॥  
-स्थानांगसूत्रं द्दटीकाकार-अभयदेवसूरिऋ, सूत्र 734-738

### द्व१०ऋ मुक्त में अमुक्त बु) रखना

जो कर्मों से मुक्त हैं (सि) परमात्मा हैं, उनको अमुक्त मानना तथा जो राग-द्वेषादि मोह कर्म से मुक्त अरिहन्त वीतराग हैं उनमें रागादि का सद्भाव मानना मुक्त में अमुक्त बु) रखना है।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त आगमों में निहित मिथ्यात्व के अलग-अलग भेदों का निरूपण आचार्यों ने भी किया है।

श्री रत्नशेखरसूरि ने मिथ्यात्व के पांच भेदों का निरूपण करते हुए कहा है ‘जिनोपदिष्ट जीवादि तत्त्वों पर अश्र) रखना अथवा श्र) भी मिथ्या रखना, विपरीत

प्ररूपणा करना, जिनोपदिष्ट तत्त्वों पर सन्देह रखना अथवा उनका अनादर करना यह पांच प्रकार का मिथ्यात्व है। इसका सेवन करने वाला मिथ्यादृष्टि है<sup>2</sup> यहां इस विषयक विस्तृत चर्चा करना उचित प्रतीत होता है-

### द्विःत्रिंशद् जिनोपदिष्ट जीवादि तत्त्वों पर अश्र)। रखना

जिनेश्वर भगवान् ने जिन जीव-अजीवादि तत्त्वों का निरूपण किया है उनको उस रूप में नहीं मानना यथा-धार्मास्तिकायादि दिखते नहीं हैं अतः उनकी सत्ता कैसे स्वीकार की जाये ?<sup>3</sup> अथवा पृथ्वीकायादि में जीव कैसे माना जाये, हम तो उनमें जीव का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार जो जिनोपदिष्ट तत्त्वों पर श्र)। नहीं करता, वह मिथ्यात्वी है।<sup>4</sup>

1. द्विःत्रिंशद् “मुक्तेषु- सकल कर्म कृत विकारविरहितेष्वनन्तज्ञानदर्शनसुख-वीर्ययुक्तेषु अमुक्तसंज्ञा न सन्त्येवेदृशामुक्ता, अनादिकर्मयोगस्य निवर्त्तयितुम शक्यत्वादानादित्वादेव आकाशात्मयोगस्येवेति। न सन्ति वा मुक्ताः मुक्तस्यवि-धयातदीपकल्पत्वादात्मन एव वा नास्तित्वादित्यादिविकल्परूपेति।”

- स्थानांगसूत्रम्, पत्रक 486-488, सूत्र 10/734-738

द्विःत्रिंशद् षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ठ 279

2. जीवाइपयत्थेषु, जिणोवइठेषु जा असदहणा।

सदहणाचि अभिच्छा, विपरीअ षरूवणा जाया।।

संशयकरणं जं चिअ, जो तेसु अणायरो पयत्थेषु।

तं पंचविहं मिच्छं, तद्विठी मिच्छादिठी य।।

- उद्धृत- रत्नशेखरसूरि, गुणस्थान क्रमारोह, प्रका. देवचंद लालभाई जैन पुस्तको)। संस्था, वर्ष 1916, पृष्ठ 4

3. “धार्माधार्मास्तिकायादीनां तु न जातुचिदपि स्वसंवेदनसंवेद्यत्वं समस्ति, अचेतनत्वात्। नापि पर संवेदनवेद्यतानित्यमरूपित्वेन। तत्कथं तेषां धार्मास्तिकायादीनां सतां सत्ता श्र)या स्यादिति।”

- षड्दर्शन समुच्चय, पृष्ठ 257

4. “पृथिव्यादीनां तु जीवत्वं कथं श्र)यं व्यक्ततल्लिंगस्यानुपलब्धोरिति चेत्।” वही, पृष्ठ 237.

### द्विःत्रिंशद् जिनोपदिष्ट तत्त्वों पर मिथ्या श्र)। रखना

जिनादिष्ट जीवादि तत्त्व नित्यानित्य धार्मवाले नहीं हैं। वे या तो एकान्त नित्य हैं या एकान्त अनित्य हैं। इस प्रकार मिथ्या श्र)। करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

### द्विःत्रिंशद् विपरीत प्ररूपणा करना

जिनेश्वर देव ने साधु के अतिरिक्त स्वधार्मी और सम्यक् दृष्टि को कुपाऽ नहीं कहा है लेकिन इनको कुपाऽ बतलाना और इनकी सेवा को पाप

बतलाना विपरीत प्ररूपणा है, ऐसी प्ररूपणा करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

### द्व०४३ सन्देह रखना

जिनादिष्ट तत्त्वों पर सन्देह रखना, यथा-भगवान ने लोक का स्वरूप जिस प्रकार का उपदिष्ट किया है वैसा वह है या नहीं ? नारकी जीव नारकीय वेदना भोगते हैं या नहीं ? इस प्रकार सर्वज्ञ प्ररूपित तत्त्वों पर सन्देह रखना मिथ्यादृष्टि है।

### द्व०५३ जिनापदिष्ट तत्त्वों का अनादर करना

जिनेश्वर देव ने आचार्य की वैयावृत्य करने को महानिर्जरा-महापर्यवसान का कारण बतलाया है।<sup>1</sup> दशवैकालिकसूत्र में आचार्य, उपाध्यायों के प्रति विनय करने का उपदेश दिया है।<sup>2</sup> इनके वचनों का आदर नहीं करने वाला, इन पर श्र) या विश्वास नहीं करने वाला तथा जिनापदिष्ट तत्त्वों का अनादर करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

इस प्रकार मिथ्यात्व के भिन्न-भिन्न भेदों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है उनका समावेश उपर्युक्त भेदों में भी किया जाता है। इसी प्रकार इनसे मिलते-जुलते जो भी कार्य एवं क्रियाएं हैं, उनका समावेश भी

1. “आयरिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ।”  
-व्यवहारसूत्रम् द्वभाष्यकार-घासीलालजी म.सा.ऋ, पृष्ठ 270

2. द्वकऋ“जे आयरिय- उवज्झायाणं सुस्सूसावयणंकरा।  
तेसिं सिक्खापवड्ढति जलसित्ता इव पायवा।।”  
-दशवैकालिकसूत्रम् भाग 2, गाथा 9/2/12

द्वखऋ वही, गाथा 9/3/1

द्वविस्तृत विवेचन हेतु दशवैकालिकसूत्र का नवम् अध्यायन संपूर्ण दृष्टव्य है।

मिथ्यात्व में कर लेना चाहिए।

उपर्युक्त सभी भेद मिथ्यात्वी के होने से मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। अतः इनका गुणस्थान भी मिथ्यात्व गुणस्थान है।

### २. सास्वादन गुणस्थान का स्वरूप

वह औपशमिक सम्यक् दृष्टि जीव जिसके उमशम समकित का काल पूर्ण हो गया है वह अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का परित्याग

करके मिथ्यात्व की ओर अभिमुख है किन्तु अभी तक जिसने मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सास्वादन सम्यक् दृष्टि कहलाता है। इसे और अधिक स्पष्ट करने हेतु तत्त्वदर्शियों ने समझाया है कि सम्यक्त्व रूपी ऋतु, परिणाम रूपी डाल, मोहरूपी वायु चलने से जिस समय सम्यक्त्व रूपी ऋतु मिथ्यात्व रूपी धारती पर गिरता नहीं है अपितु बीच में रहता है, उस समय सम्यक्त्व के परिणामों के छूटने से और मिथ्यात्व के परिणामों को प्राप्त नहीं होने से मिथ्यात्व में पहुंचने के उत्कृष्ट छः आवलिका पहले के परिणाम को सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व को प्राप्त करने वाला होता है किन्तु जैसे खीर का भोजन करने वाले को वमन करने पर खीर का स्वाद अनुभव में आता रहता है वैसे ही सम्यक्त्व के परिणामों को त्याग करने के पश्चात् मिथ्यात्व की ओर अभिमुख जीव को कुछ समय पर्यन्त सम्यक्त्व का आस्वाद अनुभव में आता रहता है इसलिए इसे सास्वादन गुणस्थान की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।<sup>1</sup> उपशम समकित से गिरा हुआ जीव ही इस गुणस्थान का स्वामी होता है। अतः उपशम समकित कैसे प्राप्त होती है तथा उससे व्यक्ति कैसे गिरता है, इस संबंध में कुछ चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

1. “सासादनं तत्र आयमौपशमिक सम्यक्त्व लक्षणं सादयति अपनयति आसादनम् अनन्तानुबन्धी कषायवेदनम्।.....ततः सहासादनेन वर्तत इति सासादनम्।..... तथा\*त्रपि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्धमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इति इदं सास्वादनमुच्यते।”

—षड्शीतिप्रकाश ऋआचार्य देवेन्द्रसूरि विरचित वृत्ति सहितऋ

प्रणेता—मुनि नंदन विजय, प्रका. जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, राजनगर ऋअहमदाबादऋ,  
पत्रक 43-44

### उपशम समकित की प्राप्ति

उपशम समकित अनन्तानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय इन सात प्रकृतियों के उपशम होने पर होती है।<sup>1</sup> इसमें मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गल कुछ समय तक राख से दबी हुई अग्नि की तरह उपशान्त रहते हैं। उपशम समकित के दो भेद हैं—<sup>2</sup> ऋ1ऋ ग्रन्थि भेदजन्य और ऋ2ऋ उपशम श्रेणी भावी। कर्मग्रंथानुसार ग्रन्थिभेदजन्य उपशम समकित अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीव को होती है।<sup>3</sup> इस जीव को उपशम समकित की प्राप्ति के लिए निम्न तीन करण

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/21

करने पड़ते हैं -<sup>4</sup> द्विऋ यथाप्रवृत्तिकरण, द्विऋ अपूर्वकरण और द्विऋ अनिवृत्तिकरण। इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है-

### द्विऋ यथाप्रवृत्तिकरण

आत्मा की अनेक शक्तियां हैं, उनमें प्रज्ञाशक्ति अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। यदि प्रज्ञाशक्ति का समुचित उपयोग हो तो यह जीवन की अनेक शक्तियों को संबल प्रदान कर सकती है किन्तु इसका उपयोग आत्मा की विवेक शक्ति पर निर्भर है। जब आत्मा की विवेक शक्ति स्वस्वरूप रमण की ओर प्रज्ञा शक्ति को लगाती है तब उससे आत्मा में रहने वाली अनेक शक्तियां आत्मा के प्रकाश पुंज को निरावरण बना देती है किन्तु जब विवेक शक्ति प्रज्ञाशक्ति का नियोजन वैभाविक रमण की ओर कर देती है तब आत्मा की अन्य शक्तियां भी धूमिल होने लगती है। न्ततः आत्मा का आसक्ति भावों में रमण होने से सात-आठ कर्मों का निरन्तर गाढ़ बन्धान होता रहता है। जब यह दशा चिरकाल तक चलती रहती है तब आत्मा का स्वस्वरूप में रमण करना स्तम्भित हो जाता है और शास्त्रीय परिभाषानुसार गाढ़तर-गाढ़तम

1. द्विऋ कर्मग्रंथ द्विव्याख्याकार-श्री मिश्रीलालजी म.सा.ऋ, प्रका. मरूधार केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, भाग 2, पृष्ठ 16  
द्विऋ वही, भाग 5, पृष्ठ 371-372  
द्विऋ षड्शीति प्रकाशः, पृष्ठ 42
2. वही, पृष्ठ 42
3. द्विऋ वही, पृष्ठ 42-43  
द्विऋ कर्मग्रंथ भाग 2, पृष्ठ 16
4. द्विऋ षड्शीति प्रकाशः, पृष्ठ 42-43

---

द्विऋ पंचसंग्रह द्विऋ चन्द्रमहर्षिकृत स्वोपज्ञवृत्ति सहितऋ, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1927, उपशमनाकरण, पत्रक 191, गाथा 5

मिथ्यात्व की बंधान स्थिति उत्कृष्ट स्वरूप को धारण करके आत्मा की शक्तियों को ससुप्त बना देती है जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का मौलिक स्वरूप आच्छादित होकर विविधा गतियों एवं जातियों में परिभ्रमण करता रहता है। न्ततः अनेक दुःखों, द्वन्द्वों का अनुभव करते हुए भी वह शीघ्रता से सद् राह की ओर बढ़ नहीं पाती है किन्तु एक समय ऐसा भी आता है जब उसका सद् राह की ओर आकर्षण बढ़ने लगता है। जैसे किसी पर्वत के अग्र भाग पर कोई तीक्ष्ण पत्थर है। वर्षा आने पर उसका कुछ भाग गीला हो जाता है फिर कदाचित आंध

गी चलने पर वह पर्वत से फिसलकर पानी के प्रवाह में गिर जाता है। तदनन्तर पानी का प्रवाह नदी में मिल जाता है तो वह पत्थर भी नदी में बहने लगता है। प्रवाह के साथ बहते-बहते उसकी तीक्ष्णता समाप्त हो जाती है और वह गोल-मटोल बन जाता है। इसके उपरान्त भी वह पत्थर पानी के प्रवाह में बहता रहता है। बहते-बहते कभी वह समुद्र में पहुँच जाता है। समुद्र की उत्ताल तरंगों के बीच उछलता हुआ कदाचित वह बाहर तट पर पहुँच जाता है और यदि किसी चतुर परीक्षक का सहयोग मिल जाए तो वह पत्थर किसी अच्छे स्थल पर भी पहुँच सकता है। उसी प्रकार अनादिकाल से मिथ्यात्व में परिभ्रमण करते-करते व्यक्ति को कुछ पश्चाताप होने लगता है तबस्वरूप उसे यथाप्रवृत्तिकरण की अवस्था प्राप्त होने लगती है।<sup>1</sup> कई बार अध्यवसाय शु) अशु) होते रहते हैं। किन्तु राग-द्वेष की ग्रन्थि का भेदन नहीं हो पाता। यथाप्रवृत्तिकरण करने वाले भव्य जीव के सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोटा-कोटि सागरोपम जितनी हो जाती है।<sup>2</sup> यह करण अभव्य जीवों को भी होता है।

1. सव्वुसमण जोगो पज्जत्त परिणदि सण्णि सुमलेसो।  
परियत्तमाणसुभपगइबंधागो\*तीव सुज्झंतो॥  
असुभसुभे अणुभागे अणंतगुणहानिवुड्ढि परिणामो।  
अन्तो कोडाकोडीठिइओ आउं अबंधांतो॥  
बन्धादुत्तरबन्धां पलिओवमसंखभागऊणूणं।  
सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणइ करणाइं॥  
-पंच संग्रह, उपशमनाकरण, गाथा 2-4
2. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 16

इस करण का करने वाला जीव कर्मों की स्थिति कुछ कम एक कोटाकोटी सागरोपम करके ग्रंथि देश को प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसे भेद नहीं सकता।<sup>1</sup> इसमें उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशु) होती है।<sup>2</sup>

#### द्धरं अपूर्वकरण-

यथाप्रवृत्तिकरण करने वाले भव्य जीव के अध्यवसाय जब विश)त्तर बनते चले जाते हैं तब वह ग्रंथि भेदन कर देता है। इस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं क्योंकि यह करण पहले कभी नहीं आया था। यह करण अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव को होता है। कर्मग्रंथानुसार यह परिणाम अधिकांश बार नहीं आता है।<sup>3</sup>

### द्धृष्ट अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण के पश्चात् भी जब अध्ययवसायों की धारा सतत् विशु) बनती चली जाती है तब अनिवृत्तिकरण आता है। इस परिणाम को प्राप्त जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं लौटता है इसलिए इसको अनिवृत्तिकरण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है।<sup>4</sup> इसका एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण का प्रादुर्भाव होने लगता है।<sup>5</sup> अन्तरकरण को करती हुई आत्मा अन्तर्मुहूर्त में उदय में आने वाले कर्मदलिकों के दो विभाग करती है। पहले विभाग के दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त में उदय में आने वाले दलिकों में निक्षिप्त कर देती है और दूसरे विभाग के दलिकों को अन्तर्मुहूर्त के बाद में उदय में आने वाले

1. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 17
2. गंतुं संखेज्जंसं अहापव्वत्तस हीण जा सोही।  
तीए पढमे समये अणन्त गुणिया उ उक्कोसा।।  
एवं एक्कंतरिया हेट्टुवरिं जाव हीणपज्जन्ते।  
तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरि होई अणन्तगुणा।।  
-पंचसंग्रह, उपशमनाकरण, गाथा 7-9, पत्रक 192
3. कर्म ग्रंथ भाग 2, पृष्ठ 17
4. वही, पृष्ठ 17
5. "गम्भीरभवोदधिमध्यविपरिवर्ती जन्तुरनाभोगनिर्वर्तितेन गिरि सरि  
दुपलघोलनाकल्पेन यथाप्रवृत्तिकरणेन संपादितान्तः सागरोपम कोटाकोटी  
स्थितिकस्य मिथ्यात्ववेदनीयस्य कर्मणः स्थितेरूतर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यति  
क्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञिताभ्यां विशु) विशोषाभ्यामन्तर्मुहूर्तकाल  
प्रमाणमन्तरकरणं करोति।"

-सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथा द्धकर्मस्तवत्र, पृष्ठ 3

दलिकों में डाल देती है। नलस्वरूप अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त का काल शान्त-प्रशान्त अवस्था वाला बना रहता है।<sup>1</sup> इस विवेचन को एक दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है- कल्पना करिए सोलह मिनट का एक अन्तर्मुहूर्त है। उन सोलह मिनट में उदय में आने वाले मिथ्यात्व के दलिकों को दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। आठ मिनट में उदय में आने वाले दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में उदयावलिका दलिकों को दलिकों में डाल दिया जाता है और शेष आठ मिनटों में उदय में आने वाले दलिकों को सोलह मिनट पश्चात् उदय में आने वाले दलिकों में निक्षिप्त कर दिया जाता है।

इसके पश्चात् अन्तरकरण में रहते हुए, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त के बाद में उदय में आने वाले दलिकों के तीन विभाग कर दिये जाते हैं- द्धृष्ट अशु),

द्वि2ऋ अर्द्धशु) और द्वि3ऋ शु)। इस प्रकार अन्तरकरण की प्रक्रिया करने के पश्चात् अनिवृत्तिकरण का काल समाप्त हो जाता है और जीव को उपशम समकित की प्राप्ति हो जाती है।

उपशम समकित का अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर तीन विभागों में से किसी एक का उदय अवश्य होता है।<sup>1</sup> परिणामों के शु) रहने पर जब शु) विभाग उदय में आता है तब क्षायोपशमिक समकित प्रकट होती है। परिणामों के अ) शु) रहने पर द्वितीय पुण्य उदय में आता है तब जीव मिश्रदृष्टि होता है। परिणामों के अशु) रहने पर जब अशु) पुंज उदय में आता है तब जीव मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि अशु) पुण्य उदय में आने से जब अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय होता है तब जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होता है लेकिन जब मिथ्यात्व को प्राप्त तो नहीं होता किन्तु उसके एकदम समीप पहुँच जाता है तो मिथ्यात्व को प्राप्त करने से पूर्व उत्कृष्ट छः आवलिका का काल सास्वाद

1. तस्मिन् द्विअन्तरकरणेऋ कृते तस्यः कर्मणः स्थिति द्वयं भवति अन्तरकरणादधास्तनी प्रथमास्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्र, तस्मादेवोपरितनीशेषा द्वितीयास्थितिरिति। स्थापनेयम् तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिक वेदनादसौ मिथ्यादृष्टिः। अन्तर्मुहूर्तेन तु तस्यामपगतायमन्तरकरणप्रथम समय एवौपशमिकं सम्यक्त्वं प्राप्नोति मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावत् यथा हि वनदवानलः पूर्वदग्धोन्धानमूषरं वा देशमवाप्यविधयायति तथा मिथ्यात्व वेदनाग्निरन्तरकरणमवाप्य विधयामति।”  
-वही पृष्ठ 3
2. “उवसंतद्वाअंते बिइए ओकडिढयस्स दलियस्स।  
अज्झवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिण्हं।।”  
-पंचसंग्रह, उपशमनाकरण, गाथा 26

गुणस्थान का होता है।<sup>1</sup>

उदाहरणार्थ- घंटे की झनकार उपशम समकित है किन्तु उसके पीछे आने वाली धीरे-धीरे समाप्त होती झनकार की आवाज सास्वाद सम्यक्त्व के समान है। यहाँ उपशम समकित की प्राप्ति एवं उससे गिरकर सम्यक्त्व, मिश्र अथवा मिथ्यात्व में आने की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

जो आत्माएँ सम्यक्त्व खोना नहीं चाहती हैं वे अपने भीतर क्षयोपशम समकित तत्पश्चात् क्षायिक समकित प्रकट कर लेती हैं<sup>2</sup> किन्तु जिन आत्माओं के परिणाम अशु) की ओर गतिमान हो जाते हैं परिणाम स्वरूप उन आत्माओं को मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होते हुए मिथ्यात्व में पहुँचने से पूर्व उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त उस अनिर्वचनीय प्रकाश का यत्किंचित् आस्वाद आता रहता



है जिसे सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।

**जिज्ञासा-** क्रम से उत्तरोत्तर आरोहण को गुणस्थान कहते हैं किन्तु सास्वादन गुणस्थान तो गिरना रूप है फिर इसे गुणस्थान कैसे कहा गया है ?

**समाधान-** मिथ्यात्व की अपेक्षा सास्वादन गुणस्थान भी ऊर्ध्वारोहण रूप है क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान भव्य, अभव्य जीवों को होता है परन्तु सास्वादन गुणस्थान भव्य जीवों को ही होता है। उनमें अपार्था पुद्गल परावर्तन मात्र जिनका संसार शेष है उनको यह गुणस्थान होता है।<sup>3</sup>

### ३. मिश्रदृष्टि गुणस्थान का स्वरूप

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की अर्धामिश्रित अवस्था को मिश्र कहा जाता है। इस गुणस्थान का पूरा नाम सम्यक् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।<sup>4</sup> इसमें मिश्र मोहनीय रूप अर्धा शु) पुण्ड्र का उदय रहने से जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या होती है।<sup>5</sup> जैसे गुड़ और दही का योग होने पर उसमें न केवल दही का और न केवल गुड़ का, अपितु दोनों का मिश्रित स्वाद आता

1. सटीकाश्चत्वार : प्राचीनः कर्मग्रन्थाः : द्विकर्मस्तवत्र, पृष्ठ 3
2. क्षयोपशम समकित प्राप्त होने पर ही क्षायिक समकित की प्राप्ति होती है। बिना क्षयोपशम के क्षायिक समकित प्राप्त हो ही नहीं सकती।
3. गुणस्थान क्रमारोह, पृष्ठ 8
4. मिश्र कर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः।  
यो भावो\*न्तर्मुहूर्तस्यात्तन्मिश्रस्थानमुच्यते॥ -गुणस्थान क्रमारोह, पृष्ठ 9
5. सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतस्सव्वधादिकज्जेण।  
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो॥  
-गोम्मटसार- जीवकाण्ड, गाथा 12, पृष्ठ 17

है, उसी प्रकार विवेक-विकलता के कारण जिसको न केवल जिनप्रणीत तत्त्वों पर और न केवल अन्य मतों पर श्र) है अपितु जो दोनों को समान बु) से समझता है वह मिश्रदृष्टि है।<sup>1</sup> जिस प्रकार नारिकेलद्वीप निवासी पुरुष ओदन भात के विषय में न रुचि रखते हैं और न अरुचि, क्योंकि वहाँ तो नारियल ही पैदा होता है, चावल या अन्य कोई अन्न पैदा नहीं होता। अतः वहाँ के निवासियों ने पहले कभी चावल या अन्य कोई अन्न नहीं देखा और उनके सामने पहले पहल बिना देखे, बिना सुने कोई चावलादि अन्न रख दे तो वे विवेक-विकलता से न उस पर रुचि रखते हैं न अरुचि, अस्तु उनकी यह स्थिति मिश्र कही जाती है।

इस प्रकार सम्यक् निर्णय के अभाव में जो आम और बबूल सभी को एक जैसा माने, वह मिश्रदृष्टि है। इस विवेचन को एक अन्य दृष्टान्त द्वारा और

अधिक स्पष्ट समझा जा सकता है। जैसे-रेगिस्तान में बारीक-बारीक रेत कणों के टीलें होते हैं उनके बीचों-बीच रास्ते होते हैं। उन रास्तों से यातायात के साधनों द्वारा यात्रा की जाती है किन्तु जिस समय तेज आँधियाँ चलती हैं उस समय टीलों से रेत बिखर जाती है और रास्ते धूमिल एवं आच्छादित हो जाते हैं। ऐसे में कोई राहगीर उन नवनिर्मित अन्यान्य मार्गों को सही मार्ग मानकर गमनागमन करे तो वह यथेष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाता है अपितु रास्ते में ही भटक जाता है। उसी प्रकार चैतन्य देव रूपी सूर्य के मिश्र भावरूपी आँधी चलने पर उसका प्रकाश आच्छादित हो जाता है और मार्ग से भटके राहगीर की तरह सम्यक्त्व रूपी पथ भूलकर वह व्यद्वि मिश्रदृष्टि रूपी अन्य पथ पर चल पड़ता है नतः उसे अपना लक्ष्य नहीं मिल पाता।

**जिज्ञासा-** दो प्रकार के विरू) परिणाम एक साथ होने पर तीसरा गुणस्थान होता है किन्तु परस्पर दो विरोधी परिणाम एक साथ कैसे रह सकते

1. द्धकऋजात्यन्तरसमुद्भूतिर्व\*वाखरयोर्यथा।

गुडदधनोः सगायोगे, रस भेदान्तरं यथा॥

तथा धार्मद्वयेश्र)।, जायते समबु)तः।

मिश्रो\*सौभण्यते तस्माद्भावो जात्यन्तरात्मकः॥

-गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 14-15, पृष्ठ 9

द्दखऋदहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेव करिदुं सककं।

एवं मिस्सयभावो समामिच्छो ति णादव्वो॥

-गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 22

है ? यदि दो प्रकार के विरोधी परिणाम एक ही आत्मा में एक ही काल में माने जाएँ तो परस्पर सह- अनवस्थान लक्षण रूप विरोधी आएगा और यदि दो परिणामों की उत्पत्ति क्रमशः मानी जाये तो मिश्रगुणस्थान बन नहीं सकता।

**समाधान-** जैसे श्याम में राम की अपेक्षा मित्रा और मोहन की अपेक्षा अमित्रा, ये दोनों परिणाम एक साथ घटित होते हैं वैसे ही सर्वज्ञ प्ररूपित पदार्थ के स्वरूप के श्र)ान की अपेक्षा सम्यक्त्व और अतत्त्व श्र)ान की अपेक्षा मिथ्यात्व, ये दोनों परिणाम एक ही आत्मा में एक ही साथ घटित हो सकते हैं। यह कथन मात्र काल्पनिक नहीं है। मान लीजिए किसी व्यद्वि ने पूर्व में किसी देवता को सर्वज्ञ मान लिया हो और अब तत्पश्चात् अरिहन्त देव को सर्वज्ञ मान लिया हो और अब विवेक-विकलता के कारण वह दोनों को ही सर्वज्ञ मानकर चलता है तो वह मिश्र दृष्टि घटित हो जाता है।<sup>1</sup>

मिश्रदृष्टि जीव सम्यक्त्व के अभाव में सकल संयम या देश संयम को अंगीकार नहीं कर सकता। इसके विचारों में निश्चितता का अभाव होने से आयुबंधा योग्य परिणाम नहीं रहने से यह जीव आयुबंधा नहीं कर सकता। आयुबंधा के अभाव में इस गुणस्थान में जीव मरण को प्राप्त नहीं करता। मरण के अभाव में मारणान्तिक समुद्घात भी इस गुणस्थान में नहीं होता।

#### ४. अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप

तीसरे गुणस्थान की अपेक्षा जब आत्मप्रदेशों में अधिकांश (शु)ता और पुरुषार्थ करने की शक्तियों की तीव्रता आती है तब चौथे गुणस्थान की भव्य अवस्था प्राप्त होती है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव समग्र विश्व के हेय, ज्ञेय, उपादेय पदार्थों का विवेक कर इस निश्चय पर पहुँचता है कि मुझे हेय का परित्याग करना है, ज्ञेय को जानना है और उपादेय को ग्रहण करना है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान के पश्चात् जब भावों में तीव्रता आ जाती है तब सांसारिक दृश्य जगत के प्रति अनासक्त वृत्ति हिलोरें लेने लगती है तथा मोक्ष की प्राप्ति हेतु तीव्र अभिलाषाएँ तरंगित होने लगती हैं। यह अवस्था उत्कृष्ट अविरत सम्यक् दृष्टि की है।

भव्य संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों की सर्वज्ञ प्रणीत जीवादि तत्त्वों पर पूर्वभव के अभ्यास विशेष से, अत्यन्त निर्मल गुणात्मक स्वभाव से अथवा सद्गुरु आदि के उपदेश श्रवण से जो श्र)I, रुचि और भावना उत्पन्न होती

1. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, पृष्ठ 18

है, उसे सम्यक् श्र)Iन कहा जाता है।<sup>1</sup> सम्यक् श्र)Iन संपन्न अविरत जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहलाता है। सम्यक् श्र)Iन मोहनीय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से होता है। इसके लिए तीन करण करने पड़ते हैं यह निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। यह गुणस्थान जीवन के चरम विकास की नींव है। इसमें स्वस्वरूप में रमण करने की विवेक शक्ति पैदा होती है। प्रत्येक परिस्थिति में समभाववृत्ति छलकने लगती है। वह दूसरों के दुःख को अपना दुःख तथा दूसरों के सुख को अपना सुख समझता है। वह आत्मा की अनन्त शक्तियों को जागृत करने में तत्पर रहता है।

वह व्यद्वि कैसे सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और कैसे आत्म-शक्तियों को जागृत करता है, इसे एक दृष्टान्त के माध्यम से इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे- सूर्य के सम्मुख पहाड़, धूँवर, आंधी आदि का आवरण आ जाने पर सूर्य का प्रकाश पूर्णरूपेण परिलक्षित नहीं होता किन्तु इन आवरणों के हट जाने

पर सूर्य का प्रकाश पूर्णरूपेण परिरुद्धित हो जाता है उसी प्रकार चैतन्य आत्मा पर मिथ्यात्व, मिश्र का आवरण रहने पर उसमें सम्यक्त्व के स्वरूप की परिपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती किन्तु इन आवरणों के हट जाने पर सम्यक्त्व रूपी प्रकाश की उपलब्धि हो जाती है। यह बाहरी सूर्य तो उदय-अस्त की परिधि में चलता रहता है और इस पर समय-समय पर आँधी, धूँवर और पर्वतादि के आवरण आ जाते हैं किन्तु सम्यक्त्व रूपी सूर्य के उदित होने पर आत्मा यदि क्षणिक समकित को प्राप्त कर ले तो वह सदा-सदा के लिए प्रकाशमान बन जाती है। इस आत्मिक प्रकाश के सामने विश्व के समस्त भौतिक तत्त्व नगण्य लगते हैं क्योंकि इसकी दृष्टि में चैतन्य देव के समान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विज्ञानवान् कर्ता तत्त्व कोई नहीं है। वह क्षायिक दर्शन सम्पन्न आत्मा अथवा क्षायोपशमिक सम्यक् दर्शन सम्पन्न आत्मा परिपूर्ण क्षायिक भावयुक्त आत्मिक भावों को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाती है। एतदर्थ आत्मा हेय का परित्याग कर, ज्ञेय को जानकर, उपादेय को ग्रहण करने का उद्देश्य निश्चित करती है। इस प्रकार आत्मा विपरीत दर्शन से विलग बन जाती है। तब यह जीव अपनी शक्तियों को परिपूर्ण ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए

1. ढ्ढकऱृयथोक्तेषु च तत्त्वेषु रुचिर्जीवस्य जायते।

निसर्गादुपदेशाद्वा सम्यक्त्वं हि तदुच्यते॥

-गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 18

ढ्ढखऱृ तत्त्वार्थश्र)ानं सम्यक्दर्शनम्।

तन्निसर्गादिधागमाद्वा। -तत्त्वार्थसूत्र, 1/2-3

परिपूर्ण क्षायिक भावों को प्राप्त तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली अरहन्त भगवन्तों को <sup>1</sup> एवं परिपूर्ण क्षायिकभावों को प्राप्त अष्टकर्म विमुक्त संसार में आवागमन रहित (सि) भगवन्तों <sup>2</sup> को देव रूप में मानता है। उन्हीं पर वह दृढ़ आस्था रखता है तब अरिहन्त स्वरूप को प्राप्त करने हेतु बाह्य और आभ्यन्तर समस्त ग्रन्थियों रहित जो निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हुए हैं, उनको वह अपना गुरु मानता है <sup>3</sup> ताकि उनके मार्गदर्शनानुसार अपना स्वरूप अभिव्यक्त करने में वह सक्षम बन सके। इस हेतु वह सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है। वह सभी प्राणियों के प्रति असीम अनुकम्पा भाव रखता है। जो स्वयं के लिए हितकर होता है वैसा ही वह अन्य के लिए भी करता है। इस प्रकार वह 'सर्वभूयप्पभूयस्स' की भावना लेकर चलता है। वह विधि-निषेधा रूप अहिंसादि धर्म को अपना धर्म मानता है तथा सुगुरु, सुदेव और सुधर्म पर दृढ़ आस्था रखता हुआ वह उनका आठ आचारों सहित पालन

करता है।<sup>4</sup> नलस्वरूप सम्यक् दर्शन के प्रति उसकी इतनी प्रगाढ़ श्र) बन जाती है कि उसमें स्वल्पशंका का भी प्रवेश नहीं होता है।<sup>5</sup> सम्यक् दर्शन पर उसकी इतनी प्रगाढ़ अनुरक्ति होती है कि दूसरों के भौतिक वैभव एवं इन्द्रिय-पोषण करने वाले धर्म को देखकर वह मनसा, वाचा एवं कर्मणा कांक्षारूप<sup>6</sup> अनुमोदना भी नहीं करता। साथ ही श्र)ान रूप धर्म का आचरण करता हुआ वह मन में नल के प्रति सन्देह नहीं करता है। वह अन्यमतियों

1. अरिहन्त भगवन्तों के स्वरूप हेतु द्रष्टव्य है-  
षड्दर्शन समुच्चय, गाथा 45-46
2. सि) भगवन्तों के स्वरूप हेतु द्रष्टव्य है-  
उत्तराधययनसूत्रम् गाथा 36/66-67
3. जिणधम्मो, पृष्ठ 100-104
4. निस्संकीय निकंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिठी य।  
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अठ।।  
-उत्तराधययनसूत्रम् गाथा 28/31
5. “अधिगतजीवाजीवादित्त्वस्यापि भगवतः शासनं भावतो\*भिप्र -  
पन्नस्यासंहार्यमतेः सम्यक्दृष्टेरहत्प्रोक्तेषु अत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषुकेवलागम  
ग्राह्योष्वर्थेषु य संदेहो भवति एवं स्यादेवं न स्यादिति सा शंका।”  
-सभाष्यतत्त्वार्थधिगमसूत्रणि ढ्ढआचार्य उमास्वातिऋ, प्रका. मोतीलाल  
लाघाजी भवानी पेट, प्र.सं. पृष्ठ 144
6. “ऐहलौकिकपारलौकिकेषु विषयेष्वारंसा कांक्षा। सो\*तिचारःसम्यग्दृष्टेः।  
कुतः। कांक्षिता ह्यविचरित गुणदोषः समयमतिक्रामति।” -वही,  
पृष्ठ 144

की आरंभ-समारंभ जनित एवं अज्ञानयुक्त क्रियाओं की प्रशंसा नहीं करता तथा इन्द्रादि की वैक्रियलब्धि के माध्यम से होने वाले दृश्यों को देखकर वह उनमें मोहित भी नहीं होता। सम्यक् श्र)ान के आधार पर चलने वाले की सम्यक् दर्शन की अवस्था को दृढ़ करने हेतु वह उसका और अधिक उत्साह बढ़ाता है। तदर्थ उसकी प्रशंसा करता हुआ उसको धर्म में स्थिर करता है। समान दर्शन वाले स्वधार्मी बन्धुओं पर वह आत्मियभाव उड़ेलता है और उनको धर्म का रहस्य समझाकर वीतराग देवों के सि)ानों की प्रभावना करता है।<sup>1</sup> इस प्रकार यह गुणस्थानवर्ती जीव बड़े ही महत्वपूर्ण कार्य करता है।<sup>2</sup> इतना सब होते हुए भी वह प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अविरत सम्यक्दृष्टि है और उसके अप्रत्याख्यानवरणीय कषाय चतुष्क का उदय है। उदाहरणार्थ- कोई पुरुष सात्विक कुल में उत्पन्न हुआ किन्तु वह कुत्सित कार्य करने की अपनी आदत

के कारण कुकृत्य करते हुए कभी पुलिस द्वारा पकड़ा जाता है और उसे जेल की सजा हो जाती है। तब वह अपने कुत्सित कार्यों के बुरे ऋण को जानकर घर के वैभव को याद करता है और जेल से मुक्त होना चाहता है किन्तु पुलिस कर्मचारियों की चौकसी के कारण वह जेल से मुक्त नहीं हो पाता। उसी प्रकार अविरत सम्यक् दृष्टि जीव अविरति रूप कुत्सित कार्यों को जानता हुआ भी पुलिस कर्मचारी रूप अप्रत्याख्याना- वरणीय कषाय चतुष्क की चौकसी के कारण व्रतों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है।<sup>3</sup> इस गुणस्थानवर्ती जीव के सम्यक्त्व के अनेक भेद हैं। उनका निरूपण पूर्व में सम्यक्त्व अधिकार में कर दिया गया है।

#### ५. देशविरति गुणस्थान का स्वरूप

जो सम्यक् दृष्टि त्रस अविरति की निवृत्ति पूर्वक एक भी व्रत को

1. प्रवचनसारो)र द्धपूर्वभागऋ, पत्रक 64
2. यहाँ उत्कृष्ट भावों में रमण करने वाले अव्रती सम्यक् दृष्टि जीव की अपेक्षा से वर्णन किया गया है। वैसे सम्यक् दृष्टि जीव को महारम्भी, महाक्रियावादी, नरकायुष्क का बन्धाक भी कहा गया है।  
विशेष विवरण हेतु दृष्टव्य है- स)र्मण्डनम्, पृष्ठ 48-51
3. द्वितीयानां कषायानामुदयाद्भवर्जितम्।  
सम्यक्त्वं केवलं यत्र, तच्चतुर्थं गुणास्पदम्॥  
-गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 19

स्वीकार कर लेता है, वह इस गुणस्थान का स्वामी होता है।<sup>1</sup> इस गुणस्थान में पहुँचने वाला जीव कम से कम निरपराधी, निरपेक्ष संकल्प पूर्वक मारने की बुद्धि (बुद्धि) से (बुद्धि) से त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त होता है एवं स्थावर जीवों के आरंभ-समारंभ की मर्यादा करता है।<sup>2</sup>

इस गुणस्थानवर्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का उदय नहीं होने से यह देश-अंश से पाप से विलग होता है अतः इसको देशव्रती कहते हैं। यह गुणस्थानवर्ती जीव अधिक से अधिक बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं को अंगीकार करता है। यह गुणस्थान तिर्यचों में भी पाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि तिर्यच भी जाति स्मरण ज्ञान होने से श्र)। से व्रतों को अंगीकार कर लेते हैं। मनुष्यों में यह गुणस्थान एक व्रतधारी यावत् बारह व्रतधारी श्रावकों के होता है।

**जिज्ञासा-** एक व्रत ग्रहण करने वाला व्रती जो शेष व्रतों को ग्रहण नहीं करता है तो उसकी अपेक्षा क्या वह अव्रती कहलायेगा ?

**समाधान-** एक व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक शेष व्रतों को ग्रहण नहीं करने पर भी अव्रती नहीं कहलायेगा, क्योंकि शेष व्रत ग्रहण नहीं करना उसके परिग्रह की भावना के अन्तर्गत है, अव्रत नहीं। वह अपने परिग्रह की भावना को नहीं छोड़ने के कारण शेष व्रत ग्रहण नहीं करता है। तथापि एक व्रत ग्रहण करने पर भी वह व्रती की श्रेणी में आता है। ऐसा प्रज्ञापनासूत्र के मूलपाठ एवं टीका से भी स्पष्ट हो जाता है।<sup>3</sup> इस कथन को एक उदाहरण

1. प्रत्याख्यानोदया देशविरतिर्यत्र जायते।  
तच्छ्रा)त्वं हि देशोनपूर्वकोटिगुरुस्थितिः।  
-वही, श्लोक 24
2. “तत्र जघन्या विरतिराकुटिस्थूलहिंसादित्यागान्मद्यमांसादिपरि  
हारात्परमेष्ठिनमस्कृतिस्मृतिनियममाधारणात् यदाह-आडठि  
थूलहिंसाइमज्जमंसाइचायओ। जहन्नो सावओ होई, जो नमुक्कारधारओ।”  
-गुणस्थान क्रमारोह( पृष्ठ 17
3. ऋकऋ “अपच्चक्खाण किरिया णं भंते ! कस्स कज्जइ ?  
गोयमा ! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स।”  
इत्थं ऋ “अपच्चक्खाण किरिया इति प्रत्याख्यानं मनागपि विरति  
परिणामाभावः तदेव क्रिया अप्रत्याख्यानक्रिया।”  
-प्रज्ञापनोपांगम् ऋश्यामाचार्यऋ, टीकाकार मलयगिरि, प्रका. आगमोदय  
समिति, सूरत, 1919, पत्रंक 446-447, सूत्र 22/284

द्वारा और स्पष्ट समझा जा सकता है। जैसे- एक तपस्वी अपनी तपश्चर्या के इकतीस दिन पूर्ण होने पर मन में सोचता है कि अब मुझमें और आगे तपश्चर्या करने की शक्ति नहीं है अतः मुझे पारणा कर लेना चाहिए। पारणे के दिन पाचन शक्ति के अभाव में वह भरपेट भोजन तो नहीं करता अपितु उस दिन वह थोड़ा सा दूधा, उकाली ही ग्रहण करता है। पारणा कर लेने के पश्चात् यदि कोई उस तपस्वी से पूछे कि आज कितनी तपस्या है तो प्रत्युत्तर में वह तपस्वी यही कहता है कि आज मेरे तपस्या नहीं है, मैंने पारणा कर लिया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि उसने पारणे में स्वल्प आहार ही ग्रहण किया है तथापि वह तपस्या नहीं कहलाती। उसी प्रकार जिसने भी त्रस अविरति की निवृत्ति रूप एक भी व्रत ग्रहण कर लिया हो, वह अव्रती नहीं कहलाता। क्योंकि उसने एक व्रत ग्रहण करके अव्रत रूप तपस्या का पारणा कर लिया है। यद्यपि वह मानसिक जठराग्नि

की कमजोरी के कारण अन्य व्रतग्रहण नहीं कर पा रहा है तथापि उसका अन्य व्रतों को ग्रहण नहीं करना अव्रत की श्रेणी में नहीं आता। इस तथ्य को प्रज्ञापनासूत्र में गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए विस्तारपूर्वक समझाया गया है।<sup>1</sup> अतः व्रती श्रावक की सेवा-सुश्रूषा में पाप बताने वाले में सम्यक् दृष्टि भाव का अभाव ही मानना चाहिए।

श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती, इस तथ्य को एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे- एक नवयुवक ने एक कन्या के साथ विवाह किया। विवाह के समय उस कन्या के हाथ का उसने स्पर्श किया त्रिभले ही उसने विवाहोपरान्त जीवनपर्यन्त उस स्त्री के साथ इन्द्रिय-पोषण की कोई क्रिया नहीं की हो, किन्तु यदि कोई उस व्यद्वि के

1. हे भगवन ! जिसको परिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है ?

हे गौतम ! जिसे परिग्रहिकी क्रिया होती है उसे अप्रत्याख्यानिकी होती भी है और नहीं भी होती है। किन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसे परिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है। परिग्रहिकी क्रिया पंचम गुणस्थान तक होती है क्योंकि श्रावक परिग्रहधारी होता है किन्तु पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी क्रिया नहीं होती क्योंकि श्रावक प्रत्याख्यानी होता है। अतः परिग्रहिकी के साथ प्रत्याख्यानी की भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है वहाँ परिग्रहिकी भी विद्यमान है इसलिए अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ परिग्रहिकी क्रिया की नियमा है।

-प्रज्ञापनोपांगम्, सूत्र 22/284

लिए पूछे कि यह विवाहित है या अविवाहित, तो उत्तर यही मिलेगा- विवाहित, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के गुणों में आरोहण करने हेतु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती पुरुष आध्यात्मिक जीवन की साधना में प्रगति करने के लिए वीतराग देवों द्वारा उपदिष्ट श्रावक व्रतों में से विवाह रूप एक व्रत ग्रहण करता है। अतः वह विवाहित तुल्य व्रती ही कहलायेगा, अविवाहित तुल्य अव्रती नहीं। ऐसे श्रावक की सेवा करना धर्म है, अधर्म नहीं।<sup>1</sup>

देशव्रती श्रावक भी आध्यात्मिक भावों की विशुद्धि के साथ चलता है। वह तीन मनोरथों का चिन्तन करता है तथा विवेकपूर्वक आगे बढ़ता है। वह परिग्रह की ग्रंथि को भेदने का प्रयास करता है तथा सम्यक् दृष्टि भाव के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष करता रहता है।

६. प्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप



पाँचवें गुणस्थान की अपेक्षा जब अध्यवसायधारा में अधिक (विशु)ता आती है तो छठा गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के प्रत्याख्यानानावरणीय कषाय चतुष्क का क्षयोपशम हो जाने से वह निर्ग्रन्थ अवस्था को स्वीकार करता है। छठे गुणस्थान में यद्यपि बाह्य परिग्रह धान-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, कुप्य, खेत, वस्तु, द्विपद-चतुष्पद आदि की परिपूर्ण निवृत्ति होती है एवं आभ्यन्तर परिग्रह क्रोधा, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति-अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद आदि की निवृत्ति के लिए प्रयत्न जारी रहता है तथापि तब तक अध्यवसायों में अप्रमत्तभावरूप स्वस्वरूप रमण की तीव्रता नहीं आती जब तक वह प्रमत्त संज्ञा को भी प्राप्त करता रहता है और जिस समय अध्यवसायों में अप्रमत्त स्वरूप में रमण करने की उत्सुकता पैदा होती है उस समय वह अप्रमत्त

1. “तहारूवेणं भंते ! समणं वा माहणं वा पञ्जुवासमाणस्स किं नला पञ्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला जाव सिं)पञ्जवसाणफला पणत्ता।”

-भगवतीसूत्रम्-टीकाकार-अभयदेवसूरि, पत्रक 140-141, सूत्र 2/5/112

प्रस्तुत मूलपाठ में ‘माहणं’ शब्द का अर्थ ‘श्रावक’ ही ग्रहण किया गया है।

इसी सूत्र में आगे टीकाकार यह भी कहते हैं-

“श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः” अर्थात् श्रमण-साधु और माहन-श्रावक हैं।

श्रावक की सेवा का नल मोक्ष प्राप्ति रूप भी बतलाया है। अतः उसकी सेवा करना धर्म है, अधर्म नहीं। -वहीं, पत्रक 140-141

विस्तृत विवेचन हेतु दृष्टव्य है- स)र्ममण्डनम्, पृष्ठ 178-191

अवस्था का वरण कर सकता है। किन्तु अध्यवसायों में जब तक स्थायित्व नहीं आता तब तक कभी षष्ठम गुणस्थान में और कभी सप्तम गुणस्थान में अध्यवसायों की उपयोग धारा चलती रहती है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव की अध्यवसायधारा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ऊर्ध्वारोही बन सकती है उसके पश्चात् वह स्थिर होकर या तो नीचे की ओर मुड़ जाती है या निर श्रेणी आरोहण करने वाले जीव की ऊर्ध्वारोही बन जाती है। जो जीव श्रेणी आरोहण नहीं करता उसकी अध्यवसायधारा का उत्कर्ष-अपकर्ष उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि का होता है।<sup>1</sup> इसके पश्चात् जीव को छठे, सातवें गुणस्थान का परित्याग करना पड़ता है क्योंकि अधिक से अधिक संयम पालन की अवधि देशोनपूर्वकोटि होती है और ये दोनों गुणस्थान संयमी जीवों के ही होते हैं।

छठे गुणस्थानवर्ती सभी साधाक प्रमाद का सेवन करते ही हैं, ऐसा कोई

शाश्वत नियम नहीं है क्योंकि कई उत्कृष्ट साधनारत साधाक इस गुणस्थान में रहते हुए भी प्रमाद का सेवन नहीं करते। भगवान् महावीर को भी छद्मस्थावस्था में प्रमाद का असेवी बतलाते हुए आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है- ‘भगवान् अकषायी थे क्योंकि कषाय के उदय से उन्होंने कभी किसी पर अपनी भृकुटी टेढ़ी नहीं की। वे न तो अनुकूल विषयों से राग करते थे और न ही प्रतिकूल विषयों से द्वेष। वे शब्दादि विषयों में आसक्त होकर नहीं रहते थे। यद्यपि भगवान् छद्मस्थ यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय आदि कर्मोदय में स्थित थे तथापि वे सदा विभिन्न प्रकार के सद् अनुष्ठानों में प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया।<sup>2</sup>

1. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 27
2. छकत्र अकसाई विगयगेही य सदरूवेसु अमुच्छिण्णं झाई।  
छउमत्थो\*वि परक्कममाणो न पमायं सयं वि कुव्वित्था।।  
-आचारांगसूत्रम्, पत्रक 315, सूत्र 1/9/4/15

द्वखत्र स)र्ममण्डनम् ग्रंथ में यह चर्चा जिज्ञासा समाधान के रूप में इस प्रकार की गई है- ‘‘भगवान् को छद्मस्थ अवस्था में जब दस स्वप्न आये थे तब उन्हें अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निद्रा भी आई थी तो क्या निद्रा प्रमाद नहीं है ? इसका समाधान यह है कि भगवान् को द्रव्य निद्रा आई थी। द्रव्य निद्रा प्रमाद रूप नहीं है क्योंकि आगम साहित्य में मिथ्यात्व एवं अज्ञान को भाव निद्रा कहा है। भाव निद्रा प्रमाद रूप है, द्रव्य निद्रा नहीं। शयन करना द्रव्य निद्रा है उसे आगमिक विधानानुसार लेता हुआ साधु दोष एवं पाप का सेवन नहीं करता।’’ -स)र्ममण्डनम् पृष्ठ 308

इस प्रकार कहने का अर्थ यही है कि सामान्यतया सभी षष्ठम गुणस्थानवर्ती जीव प्रति समय प्रमाद का सेवन नहीं करते किन्तु क्वचित् कदाचित् अशुभ योगों की झलक पड़ने से ही इस गुणस्थान में जीव के प्रमाद का सेवन होने से इसे प्रमत्त संयत गुणस्थान कहा गया है। इस गुणस्थानवर्ती उत्कृष्ट साधाक मूलगुण-पांच महाव्रत और उत्तरगुण- दस प्रत्याख्यान रूप दोष के अप्रतिसेवी होते हैं। भगवतीसूत्र में कहा गया है कि इस गुणस्थानवर्ती उच्चकोटि के साधाक प्रायः कषाय-कुसील होते हैं और कषाय-कुसील निर्ग्रन्थ दोष के अप्रतिसेवी होते हैं<sup>1</sup> जैसे- भगवान् महावीर, जिन्होंने छद्मावस्था में भी किसी पाप का सेवन तीन करण, तीन योग से नहीं किया था। आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर को पाप का अप्रतिसेवी बतलाते हुए कहा है- ‘‘हेय, उपादेय के ज्ञाता कर्मों की उदय रूप अवस्था को सहन करने में समर्थ भगवान् महावीर ने स्वयं पाप कर्म करने वाले को अच्छा समझा।’’<sup>2</sup> इससे स्पष्ट हो जाता है कि

छठे गुणस्थानवर्ती सभी जीव पापकर्म का सेवन करते ही हैं, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। आहारक लब्धिधारी आहारक-लब्धि का प्रयोग इसी गुणस्थान में करते हैं किन्तु इसकी शक्ति-लब्धि सातवें गुणस्थान में उपलब्धा होती है।

#### ७. अप्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप

पाँच प्रमादों से रहित अवस्था प्राप्त मुनि अप्रमत्त संयत होता है। इसके कषायों का मंद उदय होता है। इसका स्वरूप परम् सात्विक है।<sup>3</sup> ऐसा मुनि आत्म-गुणों की प्राप्ति हेतु सतत् प्रयत्नशील रहता है।<sup>4</sup> अतः अप्रमत्त अवस्था

1. “कसाय कुसीलेण पुच्छा ?  
गोयम ! नो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा।”  
-वियाहपण्णत्तिसुत्तं- सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. महावीर जैन विद्यालय, बंबई, सूः 25/6/38
2. “णच्चाणं से महावीरे णो वि य पावगं समयकासी।  
अन्नेहिं वा न करित्था करंतं वि नाणुजाणित्था।”  
-आचारांगसूत्रम् पत्रकं 313-314, सूः 1/9/4/8
3. चतुर्थाणां कषायाणां जाते मन्दोदये सति।  
भवेत्प्रमादहीनत्वादप्रभतो महाव्रती॥ -गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 32
4. नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतशीलगुणान्वितः।  
ज्ञानध्यानधानो मौनी, शमनक्षपणोन्मुखः॥  
-वही, श्लोक 33

में रहने से अतिचार आदि संभव नहीं है। इस गुणस्थान की यह विशेषता है कि इसमें इस गुणस्थानवर्ती जीव का प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था में जाने का क्रम बना रहता है। भगवतीसूत्र में एक जीव के एक भव में अप्रमत्त गुणस्थान की समग्र स्थिति देशोन करोड़ पूर्व की मानी गई है।<sup>1</sup> जैसे- दो कमरे हैं, उन दोनों कमरों के मध्य एक दरवाजा है, उसमें रहने वाला व्यद्वि कभी एक कमरे में जाता है और कभी दूसरे कमरे में। इस प्रकार जीवनपर्यन्त उसका दोनों कमरों में गमनागमन रूप बना रहता है। अब यदि उस व्यद्वि से कोई पूछे ‘तुम कितने कमरों में रहते हो तो वह यही कहेगा’ दोनों कमरों में। यद्यपि वह व्यद्वि कभी एक साथ दोनों कमरों में नहीं रहा तथापि दोनों कमरों में गमनागमन करने के कारण ही वह ऐसा उत्तर देता है। वैसे ही प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में गमनागमन बने रहने के कारण अप्रमत्त गुणस्थान की समग्र स्थिति देशोन करोड़ पूर्व मानी जा सकती है। यह बात भगवतीसूत्र की टीका से भी स्पष्ट है।

#### ८. निवृत्ति बादर गुणस्थान का स्वरूप

सातवें गुणस्थान में रहने वाला जीव जब आध्यात्मिक उत्कर्ष की दिशा में निरन्तर गमनशील बना रहता है तब वह अपूर्वकरण नामक अष्टम गुणस्थान में आता है।<sup>2</sup> इसमें अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, अप्रत्याख्याना- वरणीय कषाय चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क इन तीनों बादर कषाय चतुष्कों की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए इसे निवृत्ति बादर गुणस्थान की संज्ञा से अभिहित किया गया है। निवृत्ति का अर्थ है- अध्यवसाय, परिणाम तथा बादर का अर्थ है- भिन्नता। इस गुणस्थान में समसमयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय असंख्यात प्रकार के होते हैं। इस कारण से भी इस गुणस्थान का नाम निवृत्तिबादर गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में पाँच प्रक्रियाएँ विशेष रूप से घटित होती हैं और उन प्रक्रियाओं के होने पर ही उपशम या क्षपक श्रेणी पर जीवों का आरोहण होता

1. “अपमत्तसंजयस्स णं भते ! अप्पमत्त संजमे वटमाणस्स सत्या वि य णं अप्पमत्त)। कालतो केवच्चिरं होंति ?”  
मंडियपुत्ता ! एक जीव पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा। णाणा जीवे पडुच्च सव्व)।”  
-भगवतीसूत्रम् सूत्र 3/3/154
2. अपूर्वात्मगुणाप्तित्वादपूर्वकरणं मतम्-गुणस्थान क्रमारोह, पृ. 29

है।<sup>1</sup> उक्त पाँच प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं- १ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुण श्रेणी, ४ गुण संक्रमण और ५ अपूर्व स्थिति बन्धा।

१ स्थितिघात- कर्मों की दीर्घस्थिति को घटाकर अवर्तनाकरण द्वारा कम करना अर्थात् जो कर्म बाद में उदय में आने वाले हैं उनको अपने उदय-स्थान से हटा देना स्थितिघात है।<sup>2</sup>

जैसे- किसी मोतियों की लड़ी के बीच का धागा यदि काट दिया जाये तो समस्त मोती शीघ्रता से गिर पड़ते हैं उसी प्रकार स्थितिरूपी धागा काट देने पर कर्मवर्गणा के दलिक रूप मोती जल्दी ही नीचे आकर गिर पड़ते हैं। अर्थात् नीचे की स्थिति के साथ मिल जाते हैं।

२ रसघात- बन्धा प्राप्त ज्ञानावरणादि कर्मों के नल देने की शक्ति को अवर्तनाकरण द्वारा मंद करना रसघात है।

३ गुण श्रेणि- जिन कर्म दलिकों को स्थितिघात कर मन्दरस

करके अपने उदय स्थान से हटाया है, उनको समयक्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित करना गुणश्रेणि है। इसमें उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जितने समय होते हैं, उनमें से उदयवलिका के समयों को छोड़कर शेष समयों में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं उन्हें पहले समय में कम, दूसरे समय में असंख्यात गुणा यावत् अन्तिम समय में असंख्यात गुणा समझना चाहिए<sup>3</sup>

**द्व4ऋ गुण संक्रमण-** पूर्व में बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंधा रही शुभ प्रकृतियों से रूपान्तरित करना गुण संक्रमण है। इसमें भी पहले समय की अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुणा दलिकों का संक्रमण होता है।<sup>4</sup>

1. पंचसंग्रह- व्याख्याकार श्री मिश्रीलालजी म.सा., प्रका. मरूधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, प्र.सं. भाग 1, पृष्ठ 14
2. द्वकऋ कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 28  
द्वखऋ कर्मग्रंथ, भाग 5, पृष्ठ 373
3. “उपरितनस्थितेर्विशु)वशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्त प्रमाणमुक्षयक्षणादुपरि क्षिप्रतर क्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृ)या विरचनं गुणश्रेणिरित्युच्यते।”  
-सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्म ग्रन्थाः द्वकर्मस्तवऋ पृष्ठ 4  
-गुणस्थान क्रमारोह, पृष्ठ 29
4. द्वकऋ “शुभ प्रकृतिष्वशुभप्रकृति दलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृ)या विशु)वशांनयनं गुणसंक्रमः, तमिहासावपूर्वकरोति।” -वही, पृष्ठ 4  
द्वखऋ कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 29

**द्व5ऋ अपूर्व स्थिति बंधा-** पूर्व की अपेक्षा अत्यल्प स्थिति वाले कर्मों को बांधाना अपूर्व स्थिति बंधा है।<sup>1</sup> यद्यपि उपर्युक्त पाँचों प्रक्रियाएँ पूर्व के गुणस्थानों में भी होती हैं तथापि इस गुणस्थान में अपूर्व ही होती है इसलिए इसका दूसरा नाम अपूर्वकरण गुणस्थान भी है।<sup>2</sup> इसमें चारिः मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए तीन करण करने पड़ते हैं-  
द्व1ऋ यथाप्रवृत्तिकरण, द्व2ऋ अपूर्वकरण और द्व3ऋ अनिवृत्तिकरण।<sup>3</sup>

अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त हुए, प्राप्त होने वाले एवं प्राप्त हो रहे सभी जीवों के संयम के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। इसका कारण यह है कि इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात समय होते हैं। अतः प्रथम द्वितीयादि समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के संयम के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, अनन्त नहीं।<sup>4</sup>

असंख्यात संख्या के अनेक भेद हैं। अतः एक समयवर्ती त्रैकालिक

जीवों के अध्ययवसायों की संख्या और सब समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्ययवसायों की संख्या ये दोनों संख्याएँ तारतम्यता के रूप में असंख्यात है, फिर भी दोनों में भिन्नता है क्योंकि असंख्यात संख्या भी अनेक प्रकार की होती है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले अनन्त जीवों के भी असंख्यात संयम स्थान ही होते हैं क्योंकि समसमयवर्ती बहुत से जीवों के संयम स्थान तुल्य शु)ि वाले होने से अलग-अलग नहीं माने जाते हैं। इस गुणस्थान में उत्तरोत्तर अनन्तगुणा विशु)ि होती है।<sup>5</sup>

1. “स्थिति च कर्माणां द्राधीयसीं प्राग्ब)वान इह तू तामपूर्वां हसीयसीं बधनाति विशु)तरत्वादिति।”  
-सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः द्धकर्मस्तवत्र, पृष्ठ 4
2. “अपूर्वकरणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमणस्थितिबन्धानां पंचानामर्थानां निर्वर्तनमस्यासावपूर्वकरणः तथाहि यावत्प्रमाणमसौ पूर्वगुणस्थानविशु)या स्थितिखण्डकं रसखण्डकं वा हलवान् ततो वृहत्तरप्रमाणमपूर्वमस्मिन् गुणस्थानेहन्ति।”  
-वही पृष्ठ, 4
3. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 30
4. सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः द्धकर्मस्तवत्र, पृष्ठ 4
5. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 30-33

## ९. अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान का स्वरूप

इसमें संज्वलन कषाय चतुष्क रूप का उदय होने से तथा समसमयवर्ती जीवों के परिणामों की समानता होने से इसे अनिवृत्ति बादर सम्परायगुणस्थान कहते हैं। जिस प्रकार प्रथम समयवर्ती सभी जीवों के संयम के अध्ययवसाय स्थान समान होते हैं उसी प्रकार यावत् अन्तिम समय पर्यन्त सभी जीवों के अध्ययवसाय समान होते हैं।<sup>1</sup> यहाँ प्रथम समयवर्ती जीवों की अपेक्षा आगे के समयों के जीवों की शु)ि क्रमशः उत्तरोत्तर अनन्तगुणा होती है। इस प्रकार शु)ि की अपेक्षा ये भी षड्स्थान पतित होते हैं।<sup>2</sup>

अष्टम गुणस्थान और नवम् गुणस्थान में अन्तर यह है कि अष्टम् गुणस्थानवर्ती जीवों के एक समय के अध्ययवसाय शु)ि की अपेक्षा असंख्यात हो सकते हैं जबकि नवम् गुणस्थानवर्ती समसमयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्ययवसाय स्थान एक ही प्रकार के होते हैं।<sup>3</sup>

### १०. सूक्ष्म सम्प्राय गुणस्थान का स्वरूप

लोभ कषाय का सूक्ष्म मात्र में उदय होने से इसे सूक्ष्म सम्प्राय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय रहता है।<sup>4</sup> इस गुणस्थानवर्ती जीव सूक्ष्म लोभ का उपशमन या क्षपण साकार उपयोग में वर्तमान रहकर करता है क्योंकि इसके अतिरिक्त चारित्र्य मोहनीय की अन्य प्रकृतियों का उपशमन या क्षपण इसमें हो चुका होता है।<sup>5</sup>

1. ढकऋ पंचसंग्रह, भाग 1, पृष्ठ 145-146  
 ढखऋ कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 33-34  
 ढगऋ हौति अणियटिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक परिणामा।  
 विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं विद्दुडकम्मवणा।।  
 -गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 57
2. ढ1ऋ “अनन्त-गुणहीन- अनन्त गुण अधिक ढ2ऋ असंख्यात गुणहीन- असंख्यात गुण अधिक ढ3ऋ संख्यात गुणहीन- संख्यात गुणअधिक ढ4ऋ अनन्तभाग हीन- अनन्तभाग अधिक ढ5ऋ असंख्यात भागहीन- असंख्यात भाग अधिक ढ6ऋ संख्यात भागहीन-संख्यात भाग अधिक।”  
 -प्रज्ञापनोपांगम्, पद 5
3. सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्म ग्रन्थाः ढकर्मस्तवऋ, पृष्ठ 4
4. “सूक्ष्मः सम्प्रायः किटीकृत लोभकषायोदय रूपोयस्य सो\*यं सूक्ष्मसम्प्रायः।”  
 -वहीं, पृष्ठ 4
5. वहीं, पृष्ठ 4

### ११. उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप

जिनका कषाय उपशान्त हो गया है, राग का भी जिनमें सर्वथा उदय नहीं है किन्तु घाती कर्म सत्ता में हैं, वे जीव उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।<sup>1</sup> इस गुणस्थान वाला जीव अन्तर्मुहूर्त में अवश्य च्युत होता है। यदि वह बीच में ही काल धर्म को प्राप्त हो जाता है तो अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न होता है और वहाँ चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करता है। यदि च्युत नहीं होता है तो पुनः क्रमशः नीचे के गुणस्थान में पहुँच जाता है और सम्हल जाए तो पुनः आगे की श्रेणी भी चढ़ सकता है।<sup>2</sup>

जीव आगे की श्रेणि किस प्रकार चढ़ता है, इसको जानने के लिए उपशम श्रेणि का क्रम विवेचन संक्षेप में इस प्रकार है-

उपशम श्रेणि जिन परिणामों की विशु) के द्वारा मनुष्य मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम करता है, ऐसे उत्तरोत्तर वृ)गत परिणामों की धारा को उपशम

श्रेणी कहते हैं<sup>3</sup> वैसे तो उपशम श्रेणि प्रारंभ करने वाले सप्तम गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त संयत ही होते हैं<sup>4</sup> लेकिन जो आचार्य उपशम श्रेणि करते हुए अनन्तानुबंधी चतुष्क की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार अनन्तानुबंधी की उपशमना चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव करता है<sup>5</sup> वह मन, वचन और काया इन तीनों योगों में से किसी भी एक योग युक्त, तेजो, पद्म, शुक्ल में से किसी एक शुभ लेश्यावाला साकार उपयोग युक्त अंतःकोटाकोटी सागरोपम की स्थिति सत्ता वाला भव्य जीव होता है। वह भव्य जीव परावर्तमान पुण्य प्रकृतियों का बन्धाक प्रतिसमय अशुभ प्रकृतियों के रस को अनन्तगुणहीन करता है तथा शुभ प्रकृतियों के रस को बढ़ाता है। स्थिति बन्ध I भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन करता है<sup>6</sup> किन्तु कर्म प्रकृतिकार एवं पंचसंग्रहकार के मतानुसार स्थिति बन्धा पल्योपम के संख्यातवें भागहीन करता है<sup>7</sup> इस प्रकार करण प्रारंभ करने

1. सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः द्विकर्मस्तवत्र, पृष्ठ 4-5
2. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 36-38
3. कर्मग्रंथ, भाग 5, पृष्ठ 371
4. वही, पृष्ठ 371
5. द्विकर्म वही, पृष्ठ 362/कम्मपयडी द्विउपशमनाकरणत्र, पृष्ठ 266  
द्विखत्र पंचसंग्रह द्विउपशमनाकरणत्र, चन्द्रमहर्षि प्रणीत
6. कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 396
7. पंचसंग्रह भाग 9, पृष्ठ 86

से पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्मल परिणामी होता है।<sup>1</sup> तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण तीन करण करता है यथा- यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और चतुर्थ उपशान्ता)।।

यथाप्रवृत्तिकरण में जीव पूर्व- पूर्वसमय से अनन्तगुण वर्धमान परिणामों से प्रवेश करता है, किन्तु तद्योग्य विशु) के अभाव में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणियां, गुणसंक्रम नहीं करता<sup>2</sup> उस समय अन्तर्मुहूर्त प्रमाण यथाप्रवृत्तिकरण के काल में प्रत्येक समय में त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण विशु) स्थान होते हैं और प्रत्येक समय के विशु) स्थान षट्स्थानपतित होते हैं। इनमें प्रथम समय के विशु)स्थान की अपेक्षा दूसरे समय में विशु) स्थान अधिका, तीसरे समय में विशु) स्थान अधिका इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में यथाप्रवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त विशु) स्थान अधिकाधिका होते हैं।<sup>3</sup> इसको इस प्रकार समझा जा सकता है-



यथाप्रवृत्तिकरण के प्रथम समय में जघन्य विशु) अल्प, उससे द्वितीय समय में जघन्य विशु) अनन्त गुण, उससे तृतीय समय में जघन्य विशु) अनन्त गुण। इस तरह यथाप्रवृत्तिकरण के संख्यातवें भाग पर्यन्त जानना चाहिए। उससे यथाप्रवृत्तिकरण के प्रथम समय की उत्कृष्ट विशु) अनन्तगुण उससे संख्यातवें भाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशु) अनन्त गुण उससे तीसरे समय की उत्कृष्ट विशु) अनन्तगुण उससे संख्यातवें भाग के बाद के तीसरे समय की जघन्य विशु) अनन्तगुण, इस तरह ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट और संख्यातवें भाग के बाद के एक-एक समय की जघन्य अनन्त गुण विशु) यथाप्रवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिए। यथाप्रवृत्तिकरण के अन्तिम संख्यातवें भाग में जो उत्कृष्ट विशु) अनुक्त है उसे भी उत्तरोत्तर अनन्तगुण जानना चाहिए। इस प्रकार से यथाप्रवृत्तिकरण की विशु) में तारतम्य रहता है।<sup>4</sup>

1. कर्मग्रंथ भाग 6, पृष्ठ 396
2. ढ्ककः कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 397  
ढ्खः पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 86
3. ढ्ककः पंचसंग्रह ढ्चन्द्रमहर्षि प्रणीतः, पृष्ठ 192  
ढ्खः पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 86/ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 396-398
4. ढ्ककः पंचसंग्रह, ढ्उपशमनाकरणः भाग 9, पृष्ठ 47-48  
ढ्खः कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 398-399

यथाप्रवृत्तिकरण संपूर्ण होने के पश्चात् जीव अपूर्वकरण में प्रविष्ट होता है। अपूर्वकरण में भी प्रतिसमय विभिन्न जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण विशु) स्थान होते हैं और पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समयों में अधिक होते हैं। प्रत्येक समय के विशु) स्थान भी षड्स्थान पतित होते हैं। विशु) में तरतमता इस प्रकार रहती है-

यथाप्रवृत्तिकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशु) से अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशु) अनन्तगुण उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशु) अनन्त होती है। इस प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त विशु) का तारतम्य रहता है।<sup>1</sup> यहाँ अपूर्वकरण के प्रथम समय में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुण संक्रमण और अन्य स्थितिबन्धा ये पाँचों बातें प्रारंभ होती है,<sup>2</sup> जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

**स्थितिघात :-** जो सत्तागत स्थिति के ऊपर के भाग में से अधिक से अधिक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण और कम से कम पत्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति खण्ड हैं, उनको क्षय करने का प्रयत्न करता है अर्थात् उतने स्थान

के दिलकों को हटाकर भूमि सफ करने का प्रयत्न करता है। उसके दिलकों को नीचे जिस स्थिति का घात नहीं होता है उसमें निक्षिप्त कर देता है। इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समयों में असंख्य गुण अधिक दिलकों को ग्रहण करता हुआ अन्तर्मुहूर्त में उसका नाश करता है। पुनः उपर्युक्त क्रम से संख्यातवें भाग प्रमाण दूसरा खण्ड लेता है और अन्तर्मुहूर्त में उसका नाश करता है। इसी रीति से अपूर्वकरण के काल में हजारों स्थितिघात करता है। अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो स्थितिसत्ता थी, उससे चरम समय में संख्यात गुणहीन होती है अर्थात् संख्यातवें भाग की स्थिति सत्ता शेष रहती है।<sup>3</sup>

**रसघात :-** अपूर्वकरण करने वाला अपूर्वकरण के प्रारंभ से ही अशुभ प्रकृतियों का सत्ता में जो रस है, उसका अनन्तवाँ भाग रखकर शेष अनन्त भागों का प्रतिसमय नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल में पूरी तरह से नाश कर

1. वही, पृष्ठ 398-399
2. ढ़कऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 399  
ढ़खऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 48
3. ढ़कऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 399  
ढ़खऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 48-49

देता है तत्पश्चात् शेष रहे अनन्तवें भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर अनन्त भागों का प्रतिसमय नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त में नाश करता है। तदनन्तर शेष रहे अनन्तवें भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर अनन्त भागों का प्रतिसमय नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्तकाल में नाश करता है। इस प्रकार एक स्थितिघात जितने काल में हजारों रसघात करता है।<sup>1</sup>

**गुणश्रेणि :-** उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त स्थिति से ऊपर के स्थानों में से दलिक ग्रहण करके उनको उदयावलिका से ऊपर के समय से प्रारंभ कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयों में पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तर्मुहूर्त से ऊपर के स्थानों में से असंख्यात-असंख्यात गुण अधिक दिलकों को उतारकर उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित करता है। इस गुणश्रेणि दलिक रचना का अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से बड़ा है यानी अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो दलिक उतारता है उनको उदयावलिका को छोड़कर उसके ऊपर के समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से अधिक समयों में स्थापित करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को भोगकर

जैसे-जैसे समाप्त करता जाता है, वैसे-वैसे दल रचना शेष समयों में होती है, परन्तु ऊपर नहीं बढ़ाता है यानी अपूर्वकरण के पहले समय में गुणश्रेणि का जो अन्तिम समय था, वही चरम समय के रूप में बना रहता है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि जिसका उदय होता है, उसकी गुणश्रेणि उदय समय से प्रारंभ होती है और जिसका उदय नहीं होता उसकी गुणश्रेणि प्रदेशोदयावलिका छोड़कर ऊपर के समय से होती है।<sup>2</sup>

**गुणसंक्रम** :- अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधी के दलिक स्वजातीय वंछती पर प्रकृति में अल्प संक्रमित करता है, दूसरे समय में असंख्यात गुण अधिक, तीसरे समय में उससे भी असंख्यात गुण अधिक दलिक संक्रमित करता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उतरोत्तर समयों में असंख्यात गुण अधिक यावत् अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त संक्रमित करता है। अनन्तानुबंधी की उपशमना करते हुए गुणसंक्रम मात्र अनन्तानुबंधी का होता है। अबधयमान प्रत्येक अशुभ प्रकृति का गुणसंक्रम तो आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है।<sup>3</sup>

1. ढकऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 48 ढखऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 400
2. ढकऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 49-50 ढखऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 400-401
3. वही, पृष्ठ 400-401

**अन्य स्थिति बंधा** :- अपूर्वकरण के प्रथम समय में अपूर्व स्थितिबंध I करता है। तत्पश्चात् होने वाला दूसरा स्थितिबंधा पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन करता है। इस तरह आगे-आगे के स्थितिबंधा पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून-न्यून होते जाते हैं। स्थितिघात और स्थितिबंधा का काल तुल्य है अर्थात् स्थितिबंधा और स्थितिघात साथ-साथ प्रारंभ होते हैं और साथ-साथ पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार इन पांचों प्रक्रियाओं का अपूर्वकरण में युगपद् प्रारंभ होता है। एक साथ चढ़े हुए जीवों में भी अधयवसाय का तारतम्य रहता है जिससे उसका दूसरा नाम निवृत्ति भी है।<sup>1</sup>

अपूर्वकरण पूर्ण करके जीव अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अपूर्वकरण वहां तक है जहां तक चढ़े हुए जीवों के अधयवसायों में तारतम्य हो तत्पश्चात् जिस समय एक साथ चढ़े हुए जीवों के अधयवसाय स्थान समान हो उस समय अनिवृत्तिकरण की शुरुआत होती है। इस करण में एक साथ चढ़े हुए जीवों के प्रतिसमय के अधयवसाय समान होते हैं। मात्र पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में अनन्तगुण विशुि) होती है। जिससे इस करण में जितने समय होते हैं उतने ही विशुि) स्थान होते हैं। अपूर्वकरण की तरह इस करण में भी जीव स्थितिघातादि पांचों पदों को एक ही साथ प्रारंभ करता है और

अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग व्यतीत हो जायें तथा एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब तक अनन्तानुबंधी का अन्तरकरण करता है। यहां अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होने से नीचे एक आवलिका को छोड़कर ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिकों को बधयमान पर प्रकृति में संक्रमित करता है और अभिनव स्थितिबंधा या स्थितिघात करते जितना समय जाता है, उतने समय में खाली करता है।

प्रथम स्थिति के आवलिकागत दलिकों को स्तिबुक संक्रम द्वारा वेद्यमान पर प्रकृति में संक्रमित कर समाप्त कर देता है।

जिस समय अन्तरकरण क्रिया प्रारंभ होती है, उसके दूसरे समय से द्वितीय स्थितिगत अनन्तानुबंधी के दलिक को उपशमित करना प्रारंभ करता है। प्रथम समय में थोड़े, दूसरे समय में असंख्यात गुण, तीसरे समय में

1. ढकऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 50

ढखऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 401

असंख्यात गुण यावत् अन्तिम समय पर्यन्त असंख्यात गुण दलिकों का उपशमन करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में सम्पूर्णतया उपशमित कर देता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निद्यत्ति निकाचना और उदीरणा के अयोग्य करता है। उपशांत हुए दलिकों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उक्त कोई करण नहीं लगता है, उसी प्रकार प्रदेश से या रस से उदय भी नहीं होता है।

इस प्रकार जो आचार्य अनन्तानुबंधी की उपशमना मानते हैं। उनके मतानुसार उसकी उपशमना की यह विधि है।<sup>1</sup>

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का अभिमत है कि अनन्तानुबंधीकषाय का उपशमन नहीं विसंयोजन होता है। इसी मत का उल्लेख करते हुए कर्म प्रकृति के 'उपशमनाकरण' में कहा है-

‘चउगइया पज्जंता तिन्नि वि संजोयणे वियोजंति।

करणं हितीहिं सहियानंतरकरणं उवसमो वा।।<sup>2</sup>

चौथे, पांचवें तथा छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति के पर्याप्त जीव तीनों करणों के द्वारा अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन करते हैं किन्तु यहां न तो अन्तरकरण होता है और न अनन्तानुबंधी का उपशमन ही होता है।<sup>3</sup> इनके मतानुसार अनन्तानुबंधी के विसंयोजन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

चारों गति के सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय क्षयोपशम सम्यक्त्वी यथासंभव चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में बताये गये तीन करण यथाप्रवृत्ति आदि करते हैं परन्तु यहां अनन्तानुबंधी का बंधान होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से अनन्तानुबंधी

1. ऋकऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 51

ऋखऋ कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 401-404

2. कम्मपयडी, उपशमनाकरण, गाथा 31

3. ऋकऋ कम्मपयडी ऋउपशमनाकरणऋ, ग्रन्थकार-शिवशर्मसूरि, टीकाकार- आ. मलयगिरि, प्रका. दलपतभाई, मगनभाई, शारदाभुवन जेसींगभाई नी बाड़ी, धीकांटा, अहमदाबाद, पृष्ठ 266, गाथा 31

ऋखऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 45

ऋगऋ कर्मग्रन्थ, भाग 6, पृष्ठ 405

कषाय चतुष्क का उद्वलनानुवि) गुणसंक्रम प्रारंभ होता है जिससे बधयमान शेष मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में प्रतिसमय असंख्यात गुणाकर रूप में अनन्तानुबंधी के दलिकों का संक्रम होता है तथा अनन्तानुबंधी का उपशम वहीं होने से उनका अन्तरकरण नहीं होता है एवं अन्तरकरण के अभाव में अन्तरकरण की प्रथम और द्वितीय इस तरह दो स्थितियां भी नहीं होती है, परन्तु अनिवृत्तिकरण के काल का एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब नीचे एक उदयावलिका को छोड़कर शेष संपूर्ण अनन्तानुबंधी का क्षय हो जाता है और शेष संपूर्ण अनन्तानुबंधी का क्षय हो जाता है तथा शेष रही उदयावलिका को भी स्तिबुक संक्रम द्वारा वेद्यमान मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में संक्रमित कर अनन्तानुबंधी की सत्ता रहित हो जाता है। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अनिवृत्तिकरण के अन्त में शेष कर्मों का भी स्थितिघात, रसघात एवं गुणश्रेणि होना बंद हो जाती है। इस प्रकार अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होती है।<sup>1</sup>

इस प्रकार उपशम श्रेणि करने वाले जो जीव अनन्तानुबंधी की विसंयोजना अथवा उपशमना करते हैं। ऐसे जीव अनन्तानुबंधी की उपशमना अथवा विसंयोजना के पश्चात् दर्शनत्रिकी की नियम से उपशमना करते हैं।<sup>2</sup> किन्तु जिन्होंने वैभाविक आयु का बंधान कर लिया है ऐसे कोई जीव अनन्तानुबंधी का क्षय करने के पश्चात् दर्शनत्रिकी का क्षय करते हैं।<sup>3</sup> वे इन सातों प्रकृतियों का क्षय करके उपशमश्रेणि चढ़ते हुए चारिः मोहनीय की प्रकृतियों का उपशमन करते हैं अथवा प्रथम अनन्तानुबंधी का क्षय या उपशमन करने के पश्चात् दर्शनत्रिकी को

उपशमित करके भी कोई चारित्र्य मोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी दर्शन त्रिक की उपशमना श्रमणपने में ही करता है।<sup>4</sup> दर्शनत्रिक की उपशमना करते हुए तीन करण करता है। मात्र अन्तरकरण करते अनुदित मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिका मात्र और उदय प्राप्त सम्यक्त्व

1. द्विकत्र पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 45-46  
द्विखत्र कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 405
2. द्विकत्र कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 406  
द्विखत्र कम्मपयडी द्विउपशमनाकरणत्र, टीकाकार-आचार्य मलयगिरि  
पृष्ठ 269, गाथा 33
3. पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 66
4. द्विकत्र कम्मपयडी द्विउपशमनाकरणत्र, पृष्ठ 269, गाथा 33  
द्विखत्र पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 66

मोहनीय की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है। तीनों अन्तरकरण के दलिकों को सम्यक्त्व मोहनीय की प्रथम स्थिति में डालता है तथा मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के प्रथम स्थितिगत दलित स्तिबुक संक्रम द्वारा सम्यक्त्व मोहनीय की उदयावलिका में संक्रमित होते हैं। सम्यक्त्व मोहनीय की प्रथम स्थिति विपाकोदय द्वारा अनुभव करते क्षीण होती है तब औपशमिक सम्यक् दृष्टि होती है। तीनों के द्वितीय स्थितिगत दलिकों को अनन्तानुबंधी की तरह उपशमित करता है, इत्यादि समग्र वर्णन प्रथम उपशम समकित की तरह समझ लेना चाहिए।<sup>1</sup>

जैसे दर्शनत्रिक को उपशमित करते अपूर्वकरण ओर अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय के दलिकों का सम्यक्त्व मोहनीय में गुण संक्रम होता था वैसे ही अन्तरकरण में प्रवेश करने के बाद भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त गुण संक्रम होता है।

द्वयहां सामान्यतः मिथ्यात्व और मिश्र का सम्यक्त्व में संक्रम होता है ऐसा संकेत किया है लेकिन मिथ्यात्व और मिश्र में भी इसी प्रकार का संक्रम होता है यह भी जानना चाहिए।<sup>2</sup> अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने के पश्चात् गुणसंक्रम के अन्त में विधयात संक्रम होता है। विधयात संक्रम द्वारा मिश्र और मिथ्यात्व के दलिकों को सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रमित करता है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय का उपशम होने के पश्चात् संक्लेश और विशु) से प्रमत्व और अप्रमत्व का

अनेक बार अनुभव कर प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त गुणस्थान में जाकर चारिः मोहनीय की उपशमना करने का प्रयत्न करता है। चारिः मोहनीय की उपशमना करता जीव भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। उनमें से यहां चारिः मोहनीय की उपशमना करते सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में यथाप्रवृत्तकरण, आठवें गुणस्थान में अपूर्वकरण और नौवें गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण करता है।<sup>3</sup> यहां यह ज्ञातव्य है कि दर्शनत्रिकी की उपशमना करने के पश्चात् चारिः मोहनीय की उपशमना करते जीव हजारों बार प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है, उसके बाद अपूर्वकरण में। इसमें अन्तिम

1. द्विकः पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 65-66  
द्विकः कम्मपयडी, टीकाकार आ. मलयगिरि, पृष्ठ 26, गाथा 33  
द्विकः कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 408-409
2. पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 65-66
3. द्विकः पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 67-68  
द्विकः कम्मपयडी द्विउपशमनाकरणः, गाथा 34, पृष्ठ 269  
द्विकः कर्मग्रंथ, भाग 6, पृष्ठ 409

बार जो अप्रमत्त्व प्राप्त होने के बाद अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उस अप्रमत्त्व को चारिः मोहनीय की उपशमना करते यथाप्रवृत्तकरण के रूप में समझना चाहिए।<sup>1</sup> अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, अवधयमान समस्त अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम और अपूर्वस्थिति बंधा पूर्व की तरह होता है। अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघातादि पांचों प्रक्रियाएं प्रवृत्त होती हैं। इस करण में दूसरी विशेषता इस प्रकार है-अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में आयु के सिवाय सात कर्मों का बंधा और सत्ता अन्तःकोडाकोडी सागर प्रमाण करता है। यद्यपि इससे पूर्व हुए अपूर्वकरणादि करणों में भी उतना ही बंधा और सत्ता होती है लेकिन उस बंधा और सत्ता से नौवें गुणस्थान की बंधा और सत्ता असंख्यात गुणहीन यानी असंख्यात भाग प्रमाण समझना चाहिए।<sup>2</sup> यद्यपि जहां बंधा और सत्ता समान मालूम होती है किन्तु बंधा की अपेक्षा सत्ता अधिक समझनी चाहिए।<sup>3</sup> इस संदर्भ में कर्मप्रकृतिकार के मतानुसार बंधा और सत्ता सामान्य से अन्तः कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।<sup>4</sup> स्थितिघात के संबंध में भी ज्ञातव्य है कि नौवें गुणस्थान में उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण ही स्थितिघात होता है तथा जो बंधा होता है उसमें भी पल्योपम के संख्यातवें भाग कम-कम करके अन्य स्थितिबंधा करता है। यद्यपि सातों कर्मों का सामान्यतः स्थितिघात पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण कहा है तथापि सत्ता में अल्प बहुत्व इस प्रकार है- सबसे कम नाम गोः की सत्ता

स्वस्थान में परस्पर तुल्य है क्योंकि इन दोनों की सत्ता सबसे कम तथा परस्पर तुल्य है उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की विशेषाधिक स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे चारित्र्य मोहनीय की सत्ता विशेषाधिक है। सत्ता संपूर्ण गुणस्थान पर्यन्त इसी प्रकार रहती है।<sup>5</sup>

इसी अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग व्यतीत होने पर तथा एक भाग शेष रहने पर असंज्ञी पंचेन्द्रिय के समान स्थितिबंधा हाता है। तत्पश्चात् बहुत से स्थितिघात हो जाने के बाद चतुरिन्द्रिय के स्थितिबंधा के तुल्य स्थितिबंधा

1. पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 68
2. द्वकत्र पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 67-68  
द्वखत्र कम्मपयडी द्वउपशमनाकरणत्र, टीकाकार- आ. मलयगिरि, पृ. 269-270
3. पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 68
4. कम्मपयडी द्वउपशमनाकरणत्र, गाथा 35, पृष्ठ 270
5. द्वकत्र कम्मपयडी द्वउपशमनाकरणत्र, पृष्ठ 270, गाथा 35  
द्वखत्र पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 69

होता है। इसके पश्चात् बहुत से स्थितिघात हो जाने के पश्चात् त्रिन्द्रिय के स्थितिबंधा के तुल्य स्थितिबंधा हाता है। इसी प्रकार बहुत से स्थितिघात हो जाने के पश्चात् द्विन्द्रिय के स्थितिबंधा के तुल्य स्थितिबंधा होता है। इसके पश्चात् बहुत से स्थितिघात हो जाने के बाद एकेन्द्रिय के स्थितिबंधा के तुल्य स्थितिबंधा होता है। उसके पश्चात् हजारों स्थितिबंधा होने के अनन्तर बीस कोडाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र का पल्योपम प्रमाण और तीस कोडाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म का डेढ़ पल्योपम प्रमाण स्थितिबंधा होता है। ऊपर जो हजारों स्थितिघात होने के पश्चात् स्थितिबंधा की बात कही वहाँ स्थितिबंधा से अपूर्व स्थितिबंधा का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स्थितिघात और स्थितिबंधा साथ ही प्रारंभ करता है और साथ ही पूर्ण कर नया प्रारंभ करता है।<sup>1</sup>

मोहनीय कर्म का दो पल्योपम का स्थितिबंधा होता है। सत्ता में स्थिति का अल्पबहुत्व बंधा के क्रमानुसार ही कहना चाहिए। वह इस प्रकार है-नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की विशेषाधिक, उससे मोहनीय की अधिका है तथा जिस-जिस कार्य का जब-जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबंधा हो, उस-उस कर्म का उस समय से लेकर अन्य स्थितिबंधा संख्यातगुणहीन संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। अतः नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबंधा जब पल्योपम प्रमाण हुआ, उसके बाद का अन्य स्थितिबंधा



1 संख्यातगुणहीन होता है तथा शेष कर्मों का अन्य-अन्य स्थितिबंधा पल्योपम के संख्यातवें भागहीन होता है।<sup>2</sup>

मोहनीय कर्म का दो पल्योपम स्थितिबंधा होने के पश्चात् हजारों अपूर्वबंधा होने के अनन्तर तीस कोडाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म का एक पल्योपम तथा मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबंधा करता है। ज्ञानावरणादि का पल्योपम प्रमाण स्थितिबंधा होने के बाद का अन्य स्थितिबंधा संख्यात गुणहीन होता है और मोहनीय का पल्योपम के संख्यातवें भागहीन होता है।

1. ढ्ककऱऱ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 68-70  
ढ्खऱऱ कम्मपयडी ढ्उपशामनाकरणऱऱ पृ. 270-71, गाथा 36-37
2. ढ्ककऱऱ कम्मपयडी ढ्उपशामनाकरणऱऱ पृष्ठ 271-72, गाथा 37-39  
ढ्खऱऱ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 71-72

मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबंधा होने के अनन्तर हजारों अन्य स्थितिबंधा होने के पश्चात् मोहनीय का स्थितिबंधा भी पल्योपम प्रमाण होता है। तत्पश्चात् मोहनीय का भी अन्य स्थितिबंधा संख्यातगुणहीन अर्थात् पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण मात्र होता है। जिस समय मोहनीय का पल्योपम प्रमाण स्थितिबंधा होता है उसी समय शेष कर्मों का अन्य स्थिति-बंधा पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है।<sup>1</sup>

जब मोहनीय कर्म का स्थितिबंधा पल्योपम प्रमाण होता है तब सत्ता का अल्पबहुत्व इस प्रकार होता है- नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की संख्यात गुणी किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य उनसे मोहनीय की संख्यात गुणी है।

मोहनीय कर्म का जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबंधा हुआ तब उसके पश्चात् नाम-गोत्र कर्म का अन्य स्थितिबंधा अपने पहले के बंधा से असंख्यात गुणहीन होता है अर्थात् मात्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

यहाँ सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है- नाम और गोत्रकर्म की सत्ता अल्प और परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य उससे मोहनीय की सत्ता संख्यात गुणी है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/50

इस प्रकार नाम और गोत्र कर्म का असंख्यात गुणहीन बंधा होने के अनन्तर हजारों स्थितिबंधा होने के पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबंधा पूर्व स्थितिबंधा से असंख्यात गुणहीन अर्थात् उसके असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है- नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी होती है।

तदनन्तर हजारों स्थितिघात हो जाने के पश्चात् एक ही प्रकार से मोहनीय कर्म का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण बंधा होता है जो कि ज्ञानावरणादि से असंख्यात गुणहीन होता है।<sup>2</sup>

1. वही, पृष्ठ 71-72

2. ऋकऋ पंचसंग्रह, भाग 9, पृष्ठ 73-74

ऋखऋ कम्मपयडी, ऋउपशमनाकरणऋ, टीकाकार आ. मलयगिरि, पृ. 271

सत्ता में अल्पबहुत्व इस प्रकार रहता है- नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की सत्ता असंख्यात गुणी स्वस्थान में परस्पर तुल्य होती है।

तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंधा व्यतीत होने पर नाम और गोत्र के बंधा से असंख्यात गुणहीन मोहनीय का बंधा होता है। स्थितिबंधा की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है- मोहनीय का स्थितिबंधा अल्प, उससे नाम और गोत्र कर्म का असंख्यात गुण, स्वस्थान में तुल्य उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों का असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य बंधा होता है। तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंधा होने के अनन्तर वेदनीय से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बंधा असंख्यात गुणहीन होता है। तब अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिए-मोहनीय का स्थितिबंधा अल्प उससे नाम और गोत्रकर्म का असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्वस्थान में परस्पर तुल्य और उससे वेदनीय का असंख्यात गुण बंधा होता है।

इसके बाद हजारों स्थितिबंधा हो जाने के पश्चात् बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म के असंख्यातवें भाग ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का स्थितिबंधा होता है।<sup>1</sup> अल्पबहुत्व इस प्रकार है- मोहनीय कर्म का स्थितिबंधा अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का असंख्यात गुण, स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे नाम और गोत्र कर्म का असंख्यात गुण स्थितिबंधा

1 होता है।<sup>2</sup> कर्म प्रकृति ग्रन्थकार के मतानुसार वेदनीय कर्म का विशेषाधिक स्थितिबंधा होता है।<sup>3</sup> बंधा के अनुरूप सत्ता संबंधी अल्पबहुत्व जान लेना चाहिए।

जिस समय सभी कर्मों का पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग प्रमाण स्थितिबंधा होता है, उस समय असंख्यात समय के बंधो हुए कर्मों की ही उदीरणा होती है क्योंकि बधयमान प्रकृति की स्थिति की अपेक्षा समयादि न्यून सत्तागत स्थितियों की उदीरणा होती है अन्य प्रकृतियों की नहीं, इसका कारण यह है कि दीर्घकाल की बंधी हुई स्थितियाँ लगभग क्षय हो गयी होती

1. पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 75-76/ कम्मपयडी द्धउपशमनाकरणत्त, टीका. आ. मलयगिरि, पृ. 271-72
2. पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 76
3. कम्मपयडी द्धउपशमनाकरणत्त, टीका. आ. मलयगिरि, पृ. 272

है। इसके बाद हजारों स्थितिबंधा होने के अनन्तर मनः पर्ययज्ञानावरण और दानान्तराय का देशघाति रस बांधाता है। तदनन्तर हजारों स्थितिबंधा व्यतीत होने पर लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का देशघाति रस बांधाता है। तत्पश्चात् संख्यात हजार स्थितिबंधा व्यतीत होने पर भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण, श्रुतज्ञानावरण का देशघाति रस बांधाता है। उसके बाद संख्यात हजार स्थितिबंधा होने के अनन्तर चक्षुदर्शनावरण का देशघाति रस बांधा करता है। उसके बाद संख्यात हजारों स्थितिबंधा होने के बाद उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का देशघाति रस बांधाते हैं। तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंधा होने के अनन्तर वीर्यान्तराय का देशघाति रस बांधाता है। श्रेणि आरूढ़ जीव ही उपर्युक्त प्रकृतियों का देशघाति रस बांधाते हैं जो किसी भी श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए हो उनका सर्वघाति रस बांधा करते हैं।

वीर्यान्तराय का देशघाति अनुभाग बंधा होने के अनन्तर संख्यात हजार स्थितिबंधा व्यतीत होने पर संयम का घात करने वाली अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क को छोड़कर बारह कषाय, नव नौ कषाय-इन इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। उसमें संज्वलन चतुष्क में से किसी एक का और तीन वेद में से किसी एक-इस तरह दो प्रकृतियों को वेदन करता हुआ अपने उदयकाल प्रमाण द्धनौवे गुणस्थान के उदयप्रमाणत्त प्रथम स्थिति करता है।<sup>1</sup>

अन्य शेष ग्यारह कषाय और आठ नौ कषाय कुल उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण करता है। संज्वलन कषाय चतुष्क और वेदत्तिक का उदयकाल इस प्रकार रहता है- स्त्रैवेद, नपुंसकवेद का उदयकाल

सबसे थोड़ा, स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे पुरुष वेद का संख्यात गुण, उससे भी संज्वलन क्रोधा का विशेषाधिक, उससे क्रमशः संज्वलन मान, माया और लोभ का विशेषाधिक-विशेषाधिक है। यहाँ पर संज्वलन क्रोधा से उपशमश्रेणि चढ़ने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोधा का उपशम नहीं होता तब तक संज्वलन क्रोधा का उदय रहता है। संज्वलन मान से उपशम श्रेणि चढ़ने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नहीं होता, तब संज्वलन मान का उदय रहता है। माया से उपशम श्रेणि चढ़ने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम नहीं होता तब तक संज्वलन माया का उदय रहता है। संज्वलन लोभ से उपशम श्रेणि चढ़ने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम नहीं होता तब तक

संज्वलन लोभ का उदय रहता है। तदनन्तर सूक्ष्म संपराय श्र)1 में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अन्तरकरण के ऊपर की अपेक्षा समान स्थितिवाला और अधोभाग की अपेक्षा उक्त न्याय से विषम स्थितिवाला है। अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्वस्थितिबंधा की निष्पत्ति होती है अर्थात् जितने काल में एक स्थितिखंड का घात करता है अथवा अपूर्व स्थितिबंधा करता है, उतने ही काल में अन्तरकरण क्रिया पूर्ण करता है। इन तीनों को एक साथ प्रारंभ करता है और एक साथ पूर्ण करता है। स्थितिघात जितना ही काल होने से अन्तरकरण क्रियाकाल में हजारों बार रसघात होता है।<sup>1</sup>

अन्तरकरण में दलिकनिक्षेप का क्रम इस प्रकार है-

जिस कर्म का उस समय बंधा और उदय दोनों हों उसके अन्तरकरण के दलिक प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति दोनों में निक्षिप्त करता है। जैसे पुरुष वेद के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला पुरुषवेद के दलिकों को दोनों स्थितियों में निक्षिप्त कर देता है। जिस कर्म का केवल उदय ही हो किन्तु बंधा नहीं होता, उसके अन्तरकरण के दलिकों को प्रथम स्थिति में ही डालता है। जैसे स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि प्रारंभ करने वाला स्त्रीवेद के दलिकों को प्रथम स्थिति में डालता है। जिस कर्म का उस समय केवल बंधा ही होता है, उदय नहीं होता उसके अन्तरकरण संबंधी दलिकों को द्वितीय स्थिति में ही डालता है, किन्तु प्रथम स्थिति में निक्षेप नहीं करता। जैसे संज्वलन क्रोधा के उदय से श्रेणि चढ़ने वाला मानादि के अन्तरकरण के दलिकों को द्वितीय स्थिति में ही डालता है। जिस कर्म का उस समय केवल उदय ही होता है, उदय के अन्तरकरण

के दलिकों को बंधाती स्वजातीय पर-प्रकृति में डालता है। जैसे- दूसरे और तीसरे कषाय के दलिकों को पर-प्रकृति में प्रक्षिप्त करता है।

अन्तरकरण करने पर द्वितीय समय में ये सात अधिकांश प्रारंभ होते हैं-

1. पुरुष वेद और संज्वलन कषायों का आनुपूर्वी से ही संक्रम होता है।
2. संज्वलन लोभ का संक्रम नहीं होता।
3. अन्तरकरण करने पर अनन्तर समयादिकों में जो प्रकृतियाँ मोहनीय के साथ अथवा अमोहनीय के साथ बंधाती हैं उनकी छः आवलिका काल में उदीरणा नहीं होती किन्तु छः आवलिका के बाद उदीरणा होती है।
4. पंचसंग्रह भाग 9, पृ. 78-82/ कम्मपयडी द्धउपशमनाकरणऋ, पृ. 272-73
5. जिस समय अन्तरकरण क्रिया शुरू हुई, उसके बाद के समय से मोहनीय कर्म का रसबंधा एक स्थानक होता है।
6. मोहनीय कर्म का संख्यात वर्ष का स्थितिबंधा होता है।
7. मोहनीय कर्म की उदीरणा संख्यात वर्ष की होती है।
8. संख्यात वर्ष के स्थितिबंधा के पश्चात् अन्य-अन्य स्थितिबंधा सभी पूर्व-पूर्व से संख्यात गुणहीन और शेष कर्मों का असंख्यात गुणहीन होता है।<sup>1</sup>

अन्तरकरण करने पर द्वितीय समय में नपुंसकवेद को उपशमना प्रारंभ करता है जब तक कि इसका चरम समय न आ जाये जैसे कि नपुंसक वेद के प्रथम समय में थोड़े प्रदेशों को उपशमित करता है, द्वितीय समय में असंख्यात गुण, तृतीय समय में असंख्यात गुण इस प्रकार प्रतिसमय असंख्यात गुण तब तक कहना चाहिए जब तक चरम समय न आ जाये। पर-प्रकृतियों में प्रति समय उपशमित दलिक की अपेक्षा असंख्यात गुण तब तक संक्रमित करता है जब तक द्विचरम समय न आ जाये। चरम समय में तो उपशाम्यमान दलिक पर प्रकृति में संक्रमित दलिकों की अपेक्षा असंख्यात गुण जानने चाहिए।

नपुंसक वेद की उपशमना के प्रथम समय से लेकर समस्त कर्मों की उदीरणा दलिकों की अपेक्षा अल्प होती है और उदय असंख्यात गुण होता है। नपुंसक वेद के उपशांत होने पर पूर्वोक्त विधि से स्त्रीवेद को उपशमित करना प्रारंभ करता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से स्त्रीवेद को उपशमित करते हुए उपशमना अ) के संख्येयतम भाग व्यतीत होने पर ज्ञानावरणादि घाति कर्मों का संख्यात

वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा होता है। इस संख्येय वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा से घाति कर्मों का अन्य स्थितिबंधा पूर्व-पूर्व से संख्यात गुणहीन होता है। इस संख्यात वर्ष प्रमाण स्थिति बंधा से लग प्रारंभ कर देशघाति- केवल ज्ञानावरण, दर्शनावरण को छोड़कर ज्ञानावरण दर्शनावरण का एक स्थानक रस बंधा करता है। इस प्रकार हजारों स्थितिबंधा व्यतीत होने पर स्त्रैवेद उपशान्त होता है।<sup>2</sup>

स्त्रैवेद के उपशान्त हो जाने पर शेष सात नोकषायों को उपशमाना प्रारंभ करता है उनको इस पूर्वोक्त प्रकार से उपशमित करता हुआ उपशान्त

अ)। के संख्येय भाग व्यतीत होने पर नाम और गोऽ इन दो कर्मों का संख्यात वर्ष का स्थिति बंधा होता है, वेदनीय का असंख्यात वर्ष का। उस स्थितिबंधा के पूर्ण होने पर वेदनीय का अन्य द्वितीय स्थितिबंधा संख्यात वर्ष का होता है। ऐसा होने पर सभी कर्मों का उसके पश्चात् संख्यात् वर्ष का ही स्थितिबंधा होता है। पूर्व-पूर्व स्थितिबंधा से पश्चात्-पश्चात् स्थितिबंधा संख्यात गुणहीन होता है। तत्पश्चात् हजारों स्थिति बंधा व्यतीत होने पर सातों नोकषाय उपशान्त हो जाते हैं।

वह नोकषायों के उपशांत होने पर जिस समय छह नोकषाय उपशांत हुए उसी समय पुरुष वेद की प्रथम स्थिति उदय समय शेष रहता है उस समय पुरुष वेद का स्थितिबंधा सोलह वर्ष का होता है। संज्वलन कषायों का संख्यात हजारों वर्षों का होता है तथा पुरुष वेद की प्रथम स्थिति में दो आवलिका शेष रहने पर प्रागुक्त स्वरूप वाले आगाल का विच्छेद हो जाता है, उदीरणा तो होती है। उसी समय से लेकर छः नो कषायों के दलिक पुरुष वेद में संक्रमित नहीं होते किन्तु संज्वलन कषायों में संक्रमित होते हैं। जब प्रागुक्त पुरुष वेद के बंध I साथ एक भी उदय स्थिति अतिक्रान्त हो जाती है तब यह अवेदक होता है। अवेदक अ)। के प्रथम समय में दो समय कम आवलिकाद्विक काल से बंधो हुए दलिक उपशांत होते हैं, शेष संपूर्ण नपुंसक वेद में कहे गये प्रकार से उपशांत होते हैं। अवेदकपने के प्रथम समय में दो समय न्यून आवलिकाद्विक काल का बंधा हुआ ही अनुपशमित शेष रहता है और उसको उतने ही काल में शांत करता है।<sup>1</sup> उसकी उपशयन विधि इस प्रकार है- प्रथम समय में थोड़े दलिकों को

उपशमित करता है। द्वितीय समय में असंख्यात गुण, तृतीय समय में असंख्यात  
 1. कम्मपयडी, टी.आ. मेलयागिरि, पृ. 274 / पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 84-85  
 गुण इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक दो समय कम दो आवलिका  
 2. कम्मपयडी, (मेलयागिरि), पृ. 274-275 / पंचसंग्रह भाग 9, पृ. 86

का चरम समय नहीं आ जाये और पर-प्रकृतियों में प्रति समय दो समय कम दो आवलिका काल पर्यन्त यथाप्रवृत्त संक्रम से संक्रमित करता है। संक्रम की विधि यह है- पहले समय में अधिका, द्वितीय समय में विशेष हीन, तृतीय समय में विशेष हीन इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक चरम समय न आ जाये। तत्पश्चात् पुरुषवेद उपशांत हो जाता है। उस समय संज्वलन कषायों का अन्तर्मुहूर्त कम बत्तीस

वर्ष प्रमाण स्थिति बंधा होता है।<sup>1</sup> किन्तु पंचसंग्रहकार के मतानुसार बत्तीस वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा होता है।<sup>2</sup> शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का संख्यात हजार वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा होता है।

जिस समय पुरुषवेद का अवेदक हुआ उसी समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोधा को एक साथ उपशमना प्रारंभ करता है और उपशमना को करते हुए प्रथम स्थितिबंधा पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबंधा संज्वलनों का संख्येय भागहीन होता है, शेष का संख्येय गुणहीन होता है। शेष स्थितिघातादि उसी प्रकार कहना चाहिए। संज्वलन क्रोधा की प्रथम स्थिति समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोधा के दलिकों को संज्वलन क्रोधा में नहीं किन्तु संज्वलन मानादि में प्रक्षिप्त करता है। दो आवलिका शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु उदीरणा ही होती है। वह उदीरणा भी आवलिका शेष रहने पर्यन्त होती है। उदीरणा आवलिका के चरम समय में संज्वलन कषायों का स्थितिबंधा चार मास का होता है, शेष कर्मों का संख्यात हजार वर्षों का होता है।<sup>3</sup>

संज्वलन क्रोधा के बंधा, उदय, उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोधा उपशान्त हो जाते हैं। उस समय एक आवलिका के समय कम दो आवलिका काल में ब)दलिकों को छोड़कर शेष अन्य संपूर्ण संज्वलन क्रोधा उपशांत हो जाता है। वह भी एक भी प्रथम स्थिति वाली चरमावलिका स्तबुक संक्रम से मान में प्रक्षिप्त की जाती है और समय कम आवलिकाद्विक ब)दलिक पुरुषवेद में कहे गये प्रकार से उपशमित करता है, संक्रमित करता है। इसी क्रम से शेष कषायों को अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण, 1. (क) कम्मपयडी, टीका. आ. मलयगिरि, पृ. 275-76  
प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन मान, माया, लोभ को उपशमित करता है। इनमें (ख) पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 88-90  
संज्वलन को उपशमना पुरुषवेद के समान जाननी चाहिए। अप्रत्याख्यानावरण,

प्रत्याख्यानावरण मानादि की उपशमना षड्भोगाय के समान जाननी चाहिए। विशेष संज्वलनों की प्रथम स्थिति में पुरुषवेद की अपेक्षा एक आवलिका अधिक जानना चाहिए। जैसे छः निकषाय उपशान्त होने पर पुरुषवेद की प्रथम स्थिति एक समय मात्र अनुपशान्त थी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मानादि के उपशान्त होने पर अनुपशान्त

1. कम्मपयडी, टीका. आ. मलयगिरि, पृ. 276

2. पंच संग्रह, भाग 9, पृ. 91

3. कम्मपयडी, टीका, आ. मलयगिरि, पृ. 276/पंच संग्रह भाग 9, पृ. 91-93

संज्वलन मानादि की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहती है। यह अति संक्षिप्त वर्णन है। विशेष इस प्रकार जानना चाहिए- जब संज्वलन क्रोधा के बंधा, उदय, उदीरणा का व्यवच्छेद हुआ तभी संज्वलनमान की द्वितीय स्थिति के दलिक आकृष्ट कर प्रथम स्थिति वाला करता है और वेदन करता है। उसमें उदय समय में थोड़े, द्वितीय स्थिति में असंख्यात गुण, तृतीय स्थिति में असंख्यात गुण प्रक्षिप्त करता है। यह तब तक कहना चाहिए जब तक प्रथम स्थिति का चरम समय नहीं आ जाये। प्रथम स्थिति के चरम समय में ही संज्वलन मान का स्थितिबंधा चारमास का और शेष ज्ञानावरणादि का संख्यात हजार वर्षों का होता है। उसी समय तीनों मानों को युगपद् उपशमना प्रारंभ करता है। संज्वलनमान की प्रथम स्थिति में समय कम तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों को संज्वलन मान में प्रक्षिप्त नहीं करता किन्तु संज्वलन माया में प्रक्षिप्त करता है।<sup>1</sup> दो आवलिका शेष रहने पर आगाल का विच्छेद हो जाता है। तब केवल उदीरणा ही होती है वह भी तब तक जब तक आवलिका का चरम समय न आ जाये, तब एक प्रथम स्थिति की आवलिका शेष रहती है। उस समय संज्वलन कषायों का दो मास का स्थितिबंधा और शेष कर्मों का संख्यात वर्षों का स्थितिबंधा होता है। उस समय संज्वलन मान के बंध I, उदय, उदीरणा का व्यवच्छेद हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान उपशान्त हो जाते हैं और संज्वलन मान की भी प्रथम स्थिति की एक आवलिका तथा समय कम दो आवलिका ब) लता को छोड़कर सभी उपशान्त हो जाते हैं। उसी समय संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति के दलिकों को खींचकर प्रथम स्थिति करता है और वेदन करता है। पूर्वोक्त संज्वलन मान की प्रथम स्थिति की एक आवलिका को स्तिबुक संक्रम से इस संज्वलन माया में प्रक्षिप्त करता है। समय कम आवलिकाद्विकब) लता को पुरुषवेद के क्रम से उपशमित और संक्रमित करता है। संज्वलन माया के उदय के प्रथम समय में



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/57

माया और लोभ का दो मास का स्थितिबंधा करता है, शेष कर्मों का संख्यात वर्षों का। उसी समय से लेकर तीनों माया को एक साथ उपशमित करना प्रारंभ करता है। तत्पश्चात् संज्वलन माया की प्रथम स्थिति तीन आवलिका शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों को संज्वलन माया में प्रक्षिप्त नहीं करता किन्तु संज्वलन लोभ में प्रक्षिप्त करता है। दो आवलिका शेष रहने पर आगाल का व्यवच्छेद हो जाता है। तत्पश्चात् केवल उदीरणा

ही प्रवृत्त होती है वह भी आवलिका के चरम समय पर्यन्त रहती है। उस समय संज्वलन माया लोभ का स्थितिबंधा एक मास का होता है शेष कर्मों का संख्यात वर्षों का होता है। तत्पश्चात् अनन्तर समय में संज्वलन माया के बंधा, उदय, उदीरणा का व्यवच्छेद हो जाता है। अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया उपशान्त हो जाती है। संज्वलन माया की प्रथम स्थिति की एक आवलिका और समय कम दो आवलिका ब) लता को छोड़कर शेष संपूर्ण उपशान्त हो जाता है। उसी समय संज्वलन लोभ की द्वितीय स्थिति के दलिकों को खींचकर प्रथम स्थिति करता है और वेदन करता है।<sup>1</sup>

पूर्वोक्त माया की प्रथम स्थिति की एक आवलिका को स्तिबुक संक्रम से संज्वलन लोभ में संक्रमित करता है। समय कम आवलिकद्विक ब) लता को पुरुष वेद क्रम से उपशमित और संक्रमित करता है।

तत्पश्चात् संज्वलन लोभ की प्रथम स्थिति के तीन भाग करता है। उनमें प्रथम दो विभागों में प्रथम स्थिति करता है। दोनों त्रिभागों की द्वितीय स्थिति के दलिकों को खींचकर निक्षेप करता है। उसमें प्रथम त्रिभाग अश्वकर्ण अ)।संज्ञक, द्वितीय किटिकरण अ)।संज्ञक होता है। संज्वलन लोभ के उदय के प्रथम समय में ही अप्रत्याख्यानादि तीनों लोभों को एक साथ उपशमना प्रारंभ करता है। उपशमना विधि पूर्ववत् जाननी चाहिए। उसमें अश्वकर्ण अ)।संज्ञक प्रथम त्रिभाग में वर्तमान पूर्व स्पर्धाकों से प्रति समय दलिक ग्रहण कर उनको अत्यन्त हीन रस वाले अपूर्व स्पर्धाक करता है। संपूर्ण संसार में भ्रमण करते हुए बंधा की अपेक्षा ऐसे स्पर्धाक कर्म नहीं किये किन्तु विशु) कर्म के कारण अभी ऐसा करता है। इसलिए ये स्पर्धाक अपूर्व कहलाते हैं।

तत्पश्चात् इस प्रकार अपूर्वस्पर्धाक करता हुआ संख्येय स्थितिबंधा  
व्यतीत होने पर अश्वकर्ण अ) में संक्रमित माया दलिक संबंधी पूर्वब)   
कर्मवेद्ये, पृ. 276-277 / पदसंग्रह, भाग 9, पृ. 92-94  
संज्वलन लोभ के साथ बंधो हुए पूर्वस्पर्धाकों से प्रति समय दलिक ग्रहण करके

परिवर्तित करता है। अर्थात् हीन रसवाला करता है। तदनन्तर किटिकरण अ)। में प्रवेश करता है। उस समय संज्वलन लोभ का स्थितिबंधा दिवस पृथक्त्व प्रमाण होता है। शेष कर्मों का वर्ष पृथक्त्व प्रमाण होता है। किटिकरणअ)। में पूर्व स्पर्धाको से अपूर्वस्पर्धाको से दलिक ग्रहण करके

1. कम्मपयडी, पृ. 277/ पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 95-96

प्रतिसमय अनन्त किटियाँ करता है। किटि अर्थात् पूर्वस्पर्धाको से अपूर्वस्पर्धाको से वर्गणा ग्रहणकर उनको अनन्त गुणहीन रसवाली करके अत्यधिक अन्तराल से स्थापित करना किटि है। जैसे- जिनकी असत् कल्पना से अनुभाग भागों का सौ, एक सौ एक, एक सौ दो तथा उन्हीं अनुभाग भागों की पाँच, पन्द्रह, पच्चीस करना किटी है।<sup>1</sup>

प्रसंगतः उन्हीं किटियों का विशेष प्ररूपण करते हैं-

वे किटियों एक अनुभागस्पर्धाक में जो अनन्तवर्गणा है उसके अनन्तवें भाग में जितनी वर्गणाएँ हैं प्रथम समय में उतनी प्रमाण करता है। वे अनन्त होती हैं और उनको सर्वजघन्य स्पर्धाक से हीन रस वाला करता है।

जो अपूर्व प्रतिसमय नवीन, नवीन किटी करता है उनको प्रतिसमय की गणना से असंख्येय गुण हानि श्रेणि से जानना चाहिए। नवीनता यह है कि प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्त गुण हीन रस होता है। यहाँ यह भावार्थ है कि प्रथम समय में प्रभूत किटियाँ करता है, द्वितीय समय में असंख्येय गुणहीन, उससे भी तृतीय समय में असंख्येय गुणहीन, इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब किटिकरणअ)। का चरमसमय न आ जाये तथा किटियों में दलिकों का प्रमाण किटि संख्या से विपरीत जानना चाहिए। जैसे प्रथम समय में सकल किटिगत दलिक सबसे थोड़े, उससे द्वितीय समय में सकल किटिगत दलिक असंख्यात गुण, उससे भी तृतीय समय में सकल किटिगत दलिक असंख्यात गुण हैं। इस प्रकार किटिकरण अ)। के चरम समय पर्यन्त कहना चाहिए।

अब प्रथम समय में की गई किटियों के परस्पर प्रदेश प्रमाण निरूपण करने के लिए कहते हैं कि जघन्य किटी से प्रारंभ करके आगे क्रमशः प्रति किटी में विशेष-विशेष हीन प्रदेशाग्र कहना चाहिए। यहाँ यह भावार्थ है कि प्रथम समय में की गई किटियों के मध्य जो सर्वमन्द अनुभाग वाली किटी है उसके प्रदेशाग्र सर्वाधिक हैं। तदनन्तर अनन्तगुण अनुभाग के अधिक होने पर द्वितीय किटी में प्रदेशाग्र विशेषहीन होते हैं यावत् तब तक कहना चाहिए जब तक प्रथम समय कृत किटियों में सर्वोत्कृष्ट किटी आ जाये। इस प्रकार प्रत्येक समय की

किटियों के लिए समझना चाहिए।

प्रथम समयकृत किटियों का अनुभाग यथोत्तर अनन्तगुण कहना चाहिए। जैसे प्रथम समयकृत किटियों में जो सर्वमंद अनुभाग वाली किटी है

वह सबसे कम अनुभाग वाली है उससे दूसरी अनन्तगुण अनुभाग वाली यावत् प्रथम समयकृत किटियों के मध्य में उत्तरोत्तर अनन्तगुण सर्वोत्कृष्ट अनुभाग वाली किटी पर्यन्त जानना चाहिए।<sup>1</sup> इसी प्रकार द्वितीयादि समयों में किटी की प्ररूपणा करनी चाहिए। अब इन्हीं किटियों को परस्पर अल्पबहुत्व कहते हैं—प्रथम समयकृत किटियों में जो बहुत प्रदेश वाली किटी है वह दूसरे समय में कृत सर्वाल्प प्रदेश वाली किटी की अपेक्षा अल्प प्रदेश वाली है। उससे दूसरे समय में कृत किटियों में सर्वाल्प प्रदेश वाली किटी असंख्यात गुण प्रदेश वाली है। उससे तीसरे समय में कृत सर्वाल्प प्रदेश वाली किटी असंख्यात गुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्य गुण चरम समय पर्यन्त कहना चाहिए।

अनुभाग की अपेक्षा अल्प बहुत्व इस प्रकार है—

प्रथम समयकृत किटियों में जो अत्यन्त मंद अनुभाग वाली किटी है वह उत्तर में कही जाने वाली किटियों की अपेक्षा अधिका अनुभागवाली है, उससे द्वितीय समय में की गयी किटियों में जो उत्कृष्ट अनुभाग वाली किटी है वह अनन्त गुणहीन अनुभाग वाली किटी है। दूसरे समय में कृत किटियों में जो अत्यन्त अल्प अनुभाग वाली किटी है उसकी अपेक्षा तीसरे समय में कृत किटियों में जो अत्यन्त सर्वोत्कृष्ट रसवाली किटी है, वह अनन्त गुणहीन रसवाली किटी है। इस प्रकार चरम समय पर्यन्त कहना चाहिए। मोहनीय कर्म में संज्वलन कषायों का चातुर्मासिक स्थितिबंधा से लेकर अन्यान्य स्थितिबंधा संख्येय भाग कम और अधिका कम तब तक कहना चाहिए जब तक किटिकरण अ) के प्रथम समय में दिवस पृथक्त्व स्थितिबंधा होता है।

तत्पश्चात् इस किटिकरण अ) के संख्येय भाग व्यतीत होने पर संज्वलन लोभ का स्थितिबंधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। तीन घातिकर्मों का दिवस पृथक्त्व प्रमाण, नाम, गोत्र, वेदनीय का बहुत हजारों वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा होता है। किटिकरण-अ) के अन्त में चरम समय में संज्वलन लोभ का स्थितिबंधा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। यह अन्तर्मुहूर्त पहले वाले अन्तर्मुहूर्त से छोटा होता है और घातिकर्मों का एक अहोरात्र का, नाम, गोत्र और वेदनीय का कुछ कम

1. कम्मपयडी, पृ. 277-78/ पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 88-102

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/60

दो वर्ष प्रमाण स्थितिबंधा होता है।

किटिकरण अ)। में समय कम आवलिका तीन शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ के दलिक संज्वलन लोभ की

पतद्ग्रहता नष्ट हो जाने से संज्वलन लोभ में संक्रमित नहीं होते किन्तु स्वस्थान में ही उपशमित होते हैं।<sup>1</sup>

किटिकरण अ)। में पुनः दो आवलिका शेष रहने पर बादर संज्वलन लोभ का आगाल नहीं होता किन्तु उदीरणा ही होती है, वह भी आवलिका पर्यन्त होती है। उस उदीरणा आवलिका के चरम समय में किटिकरण अ)। काल में की गई द्वितीयस्थितिगत किटियाँ समय कम दो आवलिक काल में बंधो हुए दलिक और उदयावलिका इतना ही संज्वलन लोभ अनुशमित रहता है, शेष शांत हो जाता है। उस समय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ उपशान्त हो जाते हैं। संज्वलन लोभ का बंधा व्यवच्छेद और बादर संज्वलन लोभ के उदय उदीरणा का विच्छेद हो जाता है। यही अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान का चरम समय है। तदनन्तर वह सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में प्रवेश करता है। उन पहले की गई किटियों को द्वितीय स्थिति से सूक्ष्म सम्पराय अ)। तुल्य प्रथम स्थिति वाली करता है। किटिकरण अ)। के अन्तिम आवलिका मात्र को स्तिबुक संक्रम में संक्रमित करता है और प्रथम तथा अन्तिम समयकृत किटियों को छोड़कर शेष किटियाँ सूक्ष्म संपराय अ)। के प्रथम समय में उदय में आती हैं। चरम समयकृत किटियों के नीचे से असंख्येय भाग को प्रथम समयकृत किटियों के उपरितन असंख्येय भाग को छोड़ कर शेष किटियों की उदीरणा करता है।

इसी गुणस्थान के द्वितीय समय में उदय प्राप्त किटियों के असंख्येय भाग को छोड़ देता है क्योंकि वे उपशान्त होने से उदय में नहीं आती और अपूर्व असंख्येय भाग को भोगने के लिए उदीरणाकरण से ग्रहण करता है। इस प्रकार सूक्ष्म संपराय अ)। के चरम समय पर्यन्त ग्रहण और मोक्ष छोड़ा जानना चाहिए। द्वितीय स्थितिगत अनुपशान्त संपूर्ण दलिकों को भी सूक्ष्मसंपराय समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्य गुण उपशमित करता है तथा नौवें गुणस्थान के चरम समय में न्यून में दो आवलिका काल में बंधा हुआ जो दलिक अनुपशान्त भी था उसे भी उस समय से लेकर उतने ही काल में दसवें गुणस्थान में उपशमित करता है। सूक्ष्म संपराय अ)। के चरम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण

अन्तम का अन्तमर्ण का स्थितिबंधा होता है।<sup>2</sup>  
1. कामपेडा, पृ. 278-279, स्थितिबंधा होता है।<sup>2</sup> पृ. 103-106

नाम और गोत्र का सोलह मुहूर्तप्रमाण तथा वेदनीय का चौबीस मुहूर्तप्रमाण स्थितिबंधा होता है। उसी चरम समय में संपूर्ण मोहनीय उपशान्त हो जाता है उसके अनन्तर समय में उपशान्त मोहनीय गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

उपशान्त मोह गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त माना गया है। उस उपशान्त अ)1 के संख्यातवें भाग प्रमाण गुणश्रेणी की रचना करता है और वह गुणश्रेणी संपूर्ण काल पर्यन्त काल एवं प्रदेश से अवस्थित रहती है।<sup>1</sup> इसी को स्पष्ट करते हुए पंचसंग्रह टीकाकारों ने लिखा है-

उपशान्त मोह गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के अलावा शेष कर्मों में स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि ये तीन पदार्थ होते हैं। उनमें से गुणश्रेणि उपशान्त मोह गुणस्थान के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण करता है, यानी उपशान्त मोह गुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने समयों में गुणश्रेणि दल रचना करता है और वह गुणश्रेणि प्रदेश एवं काल से समान है।

इस गुणस्थान में प्रत्येक समय के परिणाम एकसरीखे प्रति समय एक जैसे ही दलिक ऊपर की स्थिति में से उतरते हैं और सदृश ही रचना होती है। यानी उपशांत मोह गुणस्थान के पहले समय में जितने दलिक ऊपर से उतारे और प्रथम समय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग के समयों में जिस प्रकार से स्थापित किये, उतने ही दलिक दूसरे समय में उतारता है और उस द्विदूसरेऋतु समय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं उतने में ही इसी प्रकार से स्थापित करता है। इसी प्रकार चरम समय पर्यन्त जानना चाहिए।

पूर्व-पूर्व समय जैसे-जैसे कम होता जाता है, वैसे-वैसे ऊपर का एक-एक समय मिलता जाने से उपशांत मोह गुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण दल-रचना का काल कायम रहता है। इसी कारण कहा है कि इस गुणस्थान में काल और प्रदेश की अपेक्षा गुणश्रेणि सरीखी करता है तथा स्थितिघात, रसघात पूर्व की तरह होता है किंतु पद पतद्ग्रह के अभाव में गुणसंक्रम नहीं होता।<sup>2</sup>

— इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की उपशांत प्रकृतियाँ करण रहित होती हैं। कृष्णसूत्र, पृ. 271-80 / पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 106-108 / अपूर्तना, उदीरणा 2. कम्मपयडी, पृ. 280-281 / पंचसंग्रह, भाग 9 / पृ. 108-113

निघत्ति और निकाचनकरण प्रवृत्त नहीं होते। दर्शनमोहनीयत्रिक- सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय में उपशान्त होने पर भी संक्रमण और अपवर्तन करण होता है। उसमें संक्रम सम्यक् मिथ्यात्व और मिथ्यात्व का सम्यक्त्व में और अपवर्तना तीनों में होती है। इस प्रकार क्रोधा से श्रेणि प्रतिपन्न के लिए यह जानना चाहिए। जब मान से श्रेणि चढ़ता है तब मान को वेदन करता हुआ ही प्रथमतः नपुंसकवेदोक्त क्रम से तीनों क्रोधाओं को उपशमित करता है। तत्पश्चात् क्रोधा के उदय से श्रेणि चढ़ने वाले ने जिस क्रम से तीनों क्रोधा उपशमित किये थे, उसी क्रम से तीनों मान को उपशमित करता है। शेष समग्र वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए। जब माया से श्रेणि चढ़ता है तब माया का वेदन करता हुआ नपुंसकवेदोक्त प्रकार से तीनों क्रोधा का, तदनन्तर तीनों मान का उपशमन करता है। तदनन्तर क्रोधा में कहे प्रकारानुसार तीनों माया का उपशमन करता है, शेष वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। जब लोभ के उदय से श्रेणि चढ़ता है तब लोभ का वेदन करता हुआ पहले तीनों क्रोधा को नपुंसकवेदोक्त क्रम से उपशमित करता है तत्पश्चात् तीनों मान को, तदनन्तर तीनों माया को, तदन्तर उक्त प्रकार से तीनों लोभ को उपशमित करता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त ग्यारहवें गुणस्थान में रहकर भवक्षय अथवा अ)। काल क्षय से अवश्य पतन को प्राप्त होता है।<sup>1</sup> यह ग्यारहवें गुणस्थान की प्राप्ति का स्वरूप विस्तार पूर्वक निरूपित किया है।

## १२. क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप

मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय होने पर क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान प्राप्त होता है किन्तु शेष घाती कर्मों का आवरण बना रहने से इसमें वीतराग के साथ छद्मस्थ विशेषण भी लगाया है।<sup>2</sup> इस गुणस्थान को प्राप्त करने के लिए मोहनीय कर्म का क्षय करना सर्वथा आवश्यक है। इसको क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणि की जाती है। क्षायोपशमिक समकित वाला जीव यदि क्षपक श्रेणि पर चढ़ता है तो सर्वप्रथम क्षायोपशमिक समकित को क्षायिक समकित बनाता है तदर्थ अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शन मोहनीयत्रिक का क्षय करता है।

1. कम्मपयडी, पृ. 281

2. पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 113-114

इसके पश्चात् श्रेणि चढ़ता है। इस क्षपक श्रेणि का प्रारंभ कहाँ से, कैसे होता है ? किस योग्यता वाला जीव क्षपक श्रेणि चढ़ सकता है ? इसका प्रासंगिक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

क्षपकश्रेणि का प्रस्थापक जिन-कालिक मनुष्य ही होता है।<sup>1</sup> वह आठ वर्ष से अधिक उम्र वाला, उत्तम संहनन वाला, शु) ध्यान वाला, अविस्तृत सम्यक्दृष्टि, देशविरति, प्रमत्त, अप्रमत्त संयत में से कोई एक होता है।<sup>2</sup> इसी तथ्य का समर्थन करते हुए विशेषाशयकभाष्यकार भी कहते हैं-

पडिवतीए अविरयदेसपमत्तापमत्त विरयाणं।

अन्नयरो पडिवज्जइ सु)ज्झाणोवगयचित्तो।।<sup>3</sup>

जो अप्रमत्त संयत पूर्वधार श्रेणि आरंभ करता है वह तत्पश्चात् शुक्लध्यान से युक्त हो श्रेणि आरंभ करता है, शेष जीव धार्मध्यान से युक्त श्रेणी प्रारंभ करते हैं। इनमें क्षपक श्रेणि पर आरोहण करने वाला पहले अनन्तानुबंधी क्रोधादि चतुष्क को अन्तर्मुहूर्त में युगपत् क्षय कर देता है। उसका अनन्त भाग मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर मिथ्यात्व के साथ उसको एक साथ क्षय कर देता है। जैसे- विशाल दावानल जिसमें आधा इन्धान जल गया है वैसे ही यह क्षपक तीव्र शुभ परिणाम से अवशेष अनन्ता के भाग को मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर जला डालता है। उसी प्रकार सम्यक्मिथ्यात्व को, उसी प्रकार सम्यक्त्व मोह को क्षय करता है।<sup>4</sup>

इन मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व को क्षय कैसे करता है ? इसकी विधि का दिग्दर्शन छोटे कर्मग्रंथ के टीकाकार ने विस्तृत विवेचनकर किया है। प्रसंगतः उसका वर्णन करते हैं-

---

1. कम्मपयडी, पृ. 281 / पंचसंग्रह, भाग 9, पृ. 115-116

2. (क) सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः (कर्मस्तव), पृष्ठ 5

(ख) गिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।

खीणकसाओ भण्णदि, गिग्गंधो वीयरायेहिं ।।

-गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 62 पृष्ठ 45

अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क का विसंयोजन हो जाने पर मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय का एक साथ क्षय करने वाला यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है। करणों का स्वरूप पूर्ववत् जानना चाहिए। विशेष यह है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय में अवेदित मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व के दलिकों को गुण संक्रमण के द्वारा सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है तथा इन दोनों का उद्वलना संक्रम भी प्रारंभ करता है। जैसे प्रथम समय में वृहत्तर स्थिति खण्ड की उद्वलना करता है तत्पश्चात् द्वितीय समय में विशेषहीन, तृतीय समय में विशेषहीन इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक अपूर्वकरण का चरम समय हो। अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो स्थिति कर्म थे वे उसी के चरम समय में संख्येय गुण हीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है वहाँ भी स्थितिघातादि सभी वैसा ही करता है। अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में दर्शनत्रिकी की भी देशोपशमना निधात्ति और निकाचना का विच्छेद करता है और दर्शन मोहनीयत्रिकी की स्थिति, सत्ता आदि को अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से प्रारंभ कर स्थितिघातादि करता है और हजारों स्थिति खण्डों को घात करता हुआ असंज्ञी पंचेन्द्रिय के योग्य दर्शनत्रिकी की स्थिति सत्ता होती है। फिर प्रत्येक हजार स्थिति खण्डों के घात करने पर चतुरिन्द्रिय के योग्य स्थिति सत्ता शेष रहती है।

तत्पश्चात् उतने ही स्थिति खण्डों का घात हो जाने पर त्रैन्द्रिय के योग्य स्थिति सत्ता शेष रहती है फिर उतने ही स्थिति खण्डों का घात करने पर द्विन्द्रिय के योग्य स्थिति सत्ता तथा उतने ही स्थिति खण्डों का घात करने पर एकेन्द्रिय के योग्य स्थिति सत्ता शेष रहती है। तत्पश्चात् उतने ही स्थिति खण्डों का घात करने पर अल्पोपम के असंख्येय भाग प्रमाण होती है। तब तीनों के एक-एक संख्येय भाग को छोड़कर शेष सभी को घात करता है तत्पश्चात् पहला रह गया संख्येय भाग का एक संख्येय भाग छोड़कर शेष सभी को नष्ट करता है। इस प्रकार स्थितिघात हजारों बार होता है तत्पश्चात् मिथ्यात्व की स्थिति के असंख्येय भागों को तथा सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व के संख्येय भागों को खंडित करता है। इस प्रकार प्रभूत स्थिति खण्डों को घात करने पर मिथ्यात्व के दलिकों को अवलिका रह जाते हैं। इस स्थिति खण्डों को खण्डित करता हुआ मिथ्यात्व को सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है और सम्यक्त्व विशेषावश्यकभाष्ये वही माथा 1314 पृ. 286 मिथ्यात्व को सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है और सम्यक्त्व के दलिकों को नीचे स्वस्थान में प्रक्षिप्त करता है। फिर मिथ्यात्व के अवलिका मात्र दलिकों को स्तिबुक संक्रम से सम्यक्त्व में प्रक्षिप्त करता है। तदनन्तर सम्यक्त्व मिथ्यात्व और



सम्यक्त्व के असंख्येय भागों को खंडित करता है। एक भाग अवशिष्ट रहता है फिर उस एक भाग के भी असंख्येय भागों को खंडित करता है और एक भाग अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार कतिपय स्थिति खण्डों के खंडित होने पर सम्यक्त्व मिथ्यात्व के दलिक आवलिका प्रमाण रहते हैं। उस समय सम्यक्त्व की स्थिति सत्ता कर्म की अपेक्षा आठ वर्ष प्रमाण रहती है। उसी काल में संपूर्ण बाधाओं के नष्ट हो जाने से निश्चय नय के मतानुसार दर्शन मोहनीय क्षपक कहलाता है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति खण्ड को उत्कीर्ण करता है और उन दलिकों को उदय समय से लेकर प्रक्षिप्त करता है। केवल उदय समय से थोड़े, उससे द्वितीय समय में असंख्यात गुण इस प्रकार तब तक कहना चाहिए जब तक गुण श्रेणि का शीर्ष न आ जाये। उसके पश्चात् विशेषहीन दलिकों को यावत् चरम् स्थिति पर्यन्त प्रक्षिप्त करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में अनेक स्थिति खण्डों का उत्कीर्ण निक्षेपण द्विचरम स्थिति खण्ड पर्यन्त करता है। द्विचरम स्थिति खण्ड से चरम स्थितिखण्ड असंख्यात गुण होता है। चरम स्थिति खण्ड उत्कीर्ण करने पर यह क्षपक कृतकरण कहलाता है। इस कृतकरण समय में वर्तमान जीव काल करके चार गतियों में से किसी भी एक गति में उत्पन्न हो सकता है। लेश्या की अपेक्षा भी पहले शुक्ल लेश्या में था अब किसी भी लेश्या में हो सकता है। इस प्रकार दर्शन मोहनीय के क्षय का प्रस्थापक मनुष्य और निष्ठापक चारों गतियों में प्राप्त होते हैं। इस संबंधा में कहा भी है 'प्रस्थापक मनुष्य होता है और निष्ठापक चारों गतियों में प्राप्त होता है-'<sup>1</sup> 'यहां पर यदि ब)।युष्क श्रेणि प्रारंभ करता है तो अनन्तानुबंधी के क्षय के पश्चात् मरण संभव होने से श्रेणि करने से हट जाता है। तत्पश्चात् कदाचित् मिथ्यात्व का उदय होने से पुनः अनन्तानुबंधी को बांधता है क्योंकि उसका बीज मिथ्यात्व अभी विनष्ट नहीं हुआ है। क्षीण मिथ्या दर्शन वाला अनन्तानुबंधी को नहीं बांधता क्योंकि उसके मिथ्यात्व के बीच का अभाव हो गया है। क्षीण सप्तक अप्रतिपतित परिणाम वाला भी स्वर्ग में उत्पन्न होता है। प्रतिपतित परिणाम वाला नाना परिणाम वाला होने से अपने परिणामानुसार गति में उत्पन्न होता है।'<sup>2</sup>

1. कर्मग्रंथ द्विभाग 6ऋ, टीकाकार मलयगिरि, उदधृत- अभिधान राजेन्द्र कोष भाग तीन, द्विखवगसेद्विऋ, पृ. 729

2. द्विकऋ वही, पृष्ठ 729 द्विखऋ आवश्यकसूत्रम् द्विपूर्वभागऋ पृ. 126

इस संबंधा में विशेषावश्यकभाष्य में भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है-

ब)।ऊ पडिवन्नो पढमकसायकरवए जइ मरेज्जा।  
तो मिच्छतोदयओ विणिज्जा भुज्जो न खीणम्मि।।  
तम्मिभओ जाइ दिव्वं, तप्परिणामों य सत्तए खीणे।  
उवरय परिणामों पुण पच्छां नाणामइगइओ।।<sup>1</sup>

क्षीण सप्तक ब)।यु जीव गत्यन्तर में संक्रमण करता हुआ भी तीसरे या चौथे भव में अवश्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसका कारण यह है कि ब)।यु क्षीण सप्तक जीव यदि देव, नरक गति में जाता है तो वह देव भवान्तरित अथवा नरक भवान्तरित तीसरे भव में मोक्ष जाता है। यदि तिर्यच, मनुष्य में उत्पन्न होता है, तो वह अवश्य ही असंख्यात वर्षायुष्क वाले तिर्यच, मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है, संख्यात वर्षायुष्क तिर्यच, मनुष्यों में नहीं। वह वहां से देवभव में, देवभव से च्युत होकर मनुष्य भव में, तत्पश्चात् चतुर्थभव मनुष्य का प्राप्त कर मोक्ष में जाता है।<sup>2</sup> इस संबंध में पंचसंग्रह में भी कहा है-

तउय चउत्थे अम्मिव भवम्मि सिज्झति दंसणे खीणे।

जं देवनिरनय\*संखाउचरिमदेहेसु ते होंति।।<sup>3</sup>

यदि अब)।युष्क क्षपकश्रेणि प्रारंभ करता है तो सात प्रकृतियों के क्षीण होने पर नियम से अनुपरत परिणाम वाला ही चारिः मोहनीय के क्षय के लिए यत्न प्रारंभ करता है।<sup>4</sup> विशेषावश्यकभाष्य में भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है-

इयरो\*णुवरओ च्चिय सयलं सेट्ठिं समाणेइ।<sup>5</sup>

चारिः मोहनीय का क्षय करने के लिए प्रयत्न करता हुआ जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है यथा-यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इनका स्वरूप पूर्ववत् ही जानना चाहिए। परन्तु विशेष यह

1. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1316-17
  2. कर्मग्रन्थ ६भाग 6ः टीकाकार- आचार्य, मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, खवगसेट्ठि पृ. 729
  3. पंचसंग्रह, चन्द्रर्षि महत्तर ६स्वोपज्ञ वृत्तिः गाथा 47, पृ. 197
  4. कर्मग्रन्थ ६भाग 6ः टीकाकार-आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभियान राजेन्द्र कोष, भाग 3, पृ. 729-30
  5. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1325
- है कि यथाप्रवृत्तकरण सावतें गुणस्थान में, अपूर्वकरण आठवें गुणस्थान में तथा अनिवृत्तिकरण नौवें गुणस्थान में होता है। यहाँ अपूर्वकरण में स्थितिघातादि से

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/67

अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण अष्टक का वैसे क्षय करता है कि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में पल्योपम के असंख्येय भाग मात्र स्थिति वाले हो जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के संख्येय भाग व्यतीत होने पर स्त्यानाङ्किक, नरक गति, तिर्यचगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रिय जाति, त्रैन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म साधारण रूप सोलह प्रकृतियों का उद्वलना संक्रम द्वारा उद्वलना करता हुआ पल्योपम के असंख्येय भाग मात्र स्थिति हो जाती है। तत्पश्चात् बंधाती हुई प्रकृतियों में उन सोलह प्रकृतियों को गुणसंक्रम द्वारा प्रक्षिप्त करते-करते विशेषरूप से क्षीण हो जाती है।<sup>1</sup>

यहाँ पर अप्रत्याख्यानावरण- प्रत्याख्यानावरण कषाय अष्टक को पहले ही क्षपाना प्रारंभ किया किन्तु वह अभी भी क्षीण नहीं हुई कि मध्य में ही इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर देता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में कषाय-अष्टक को क्षीण कर देता है।<sup>2</sup> इस संबंध में कहा भी है-

अणियट्टिवायर थीणगिद्वित्तिगनिरयतिरयनामा।

संखेज्ज इमे सेसे, तप्पाउग्गा य खीयंति।

एतो हणइ कसायठगं पि पच्छा नपुंसंगं इत्थीं।

तो नो कसायछक्कं छुब्भइ संजलणकोहम्मि।

अर्थात् अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में संख्यातवां भाग शेष रहने पर स्त्यानाङ्किक, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रिय आदि जाति चतुष्क, नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण रूप सोलह प्रकृतियां क्षीण होती हैं। तदनन्तर इन सोलह प्रकृतियों के क्षय के पश्चात् सम्पूर्ण रूप से कषाय अष्टक का क्षय करता है।<sup>3</sup>

**अन्य आचार्यों का अभिमत :-** इस संबंध में अन्य आचार्यों का अभिमत है कि सोलह कर्म प्रकृतियां ही पूर्व में क्षय करना प्रारंभ करता है कि बीच

1. कर्मग्रन्थ द्विभाग 6ऋ टीका. आ. मलयगिरि, उद्धृत-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, पृ. 729-30

2. द्विकऋ कर्मग्रन्थ द्विभाग 6ऋ टीकाकार- आ. मलयगिरि, उद्धृत-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, पृ. 730

द्विखऋ आवश्यकसूत्रम्, टीकाकार-मलयगिरि, पृ. 126-27

3. वही, पृष्ठ 126-27

में ही आठ कषायों का क्षय करता है। तत्पश्चात् सोलह कर्म प्रकृतियों का क्षय

करता है<sup>1</sup> तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र में नौ नोकषाय और संज्वलन चतुष्क इन तेरह प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है।

अन्तरकरण को करके नपुंसकवेद के ऊपरितन स्थितिगत दलिकों को उद्वलनाविधि से क्षय करना प्रारंभ करता है। वे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण स्थिति वाले हो जाते हैं। तत्पश्चात् बन्धाती हुई प्रकृतियों में गुणसंक्रम के द्वारा द्विनपुंसकवेद के ऋ दलिकों का प्रक्षेप करता है। इस प्रकार प्रक्षेप करते हुए वे अन्तर्मुहूर्त मात्र में निःशेषतः क्षीण हो जाते हैं।

यदि नपुंसक वेद से क्षपक श्रेणि पर आरूढ़ है तो अधास्तन दलिकों को अनुभव-वेदन से क्षय करता है। अन्यथा आवलिका मात्र स्थिति वाले दलिकों को वह वेद्यमान प्रकृतियों में स्तिवुक संक्रम द्वारा संक्रमित करता है। इस प्रकार नपुंसक वेद का क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र में इसी प्रकार स्त्रीवेद के दलिकों को प्रक्षिप्त करता है। तत्पश्चात् छः नोकषायों का युगपत् क्षय करना प्रारंभ करता है। तदनन्तर इनके ऊपरितन स्थितिगत दलिकों को पुरुषवेद में संक्रमित नहीं करता किन्तु संज्वलन क्रोधा में संक्रमित करता है। इस संबंधा में सूत्रकार भी कहते हैं-

“---पच्छा नपुंसगं इत्थी।

नो कसाय छक्कं छुब्भइ संजलणकोहम्मि।।”

अर्थात् कषाय अष्टक के क्षय के पश्चात् नपुंसकवेद का क्षय करता है। तत्पश्चात् क्रमशः स्त्रीवेद, छः नोकषायों का क्षय करता हुआ उनके ऊपरितन स्थिति में रहे हुए दलिकों को संज्वलन क्रोधा में प्रक्षिप्त करता है किन्तु पुरुषवेद में नहीं, इन छः नोकषायों को संज्वलन क्रोधा में पूर्वोक्त विधि से प्रक्षिप्त करता हुआ अन्तर्मुहूर्त मात्र में संपूर्ण का क्षय कर देता है। इसी समय पुरुषवेद के समयकम आवलिका द्विकब) दलिकों को छोड़कर शेष दलिकों के बंधा, उदय, उदीरणा का क्षय हो जाता है। तत्पश्चात् वह अवेदक हो जाता है। यह पुरुषवेद से क्षपक श्रेणि प्रतिपन्न का क्रम है। जब नपुंसकवेद से क्षपक श्रेणि करता है तब पहले स्त्रीवेद, नपुंसकवेद का एक साथ क्षय करता है। स्त्रीवेद, नपुंसकवेद के क्षय के समकाल ही पुरुषवेद का

1. कर्मग्रन्थ द्विभाग 6ऋ टीका. आ. मलयगिरि, उद्धृत-अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, पृ. 728-30

बंधा विच्छेद करता है। तदनन्तर अवेदक हुआ पुरुषवेद हास्यादिषट्क का युगपत् क्षय करता है। जब स्त्रीवेद से क्षपक श्रेणि स्वीकार करता है तो पहले नपुंसकवेद,

तत्पश्चात् स्त्रीवेद और स्त्रीवेद के क्षय के समकाल में ही पुरुषवेद का बंधा विच्छेद करता है। तब अवेदक हुआ पुरुषवेद और हास्यादिषट्क का युगपत् क्षय करता है।<sup>1</sup>

पुरुषवेद से क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले का वर्णन :- जो जीव पुरुषवेद के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़ता है उसके क्रोधा का वेदन करते हुए क्रोधा कषाय अ)। काल के तीन विभाग होते हैं- ६१ऋ अश्वकरणअ)। ६२ऋ किटिकरणअ)। ६३ऋ किटिवेदनअ)।। अश्वकरण काल में विद्यमान जीव चारों संज्वलनों की अन्तरकरण से ऊपरितन स्थिति में प्रतिसमय अनन्त अपूर्व स्पर्धा करता है। समय कम दो आवलिका प्रमाण काल से ब) पुरुषवेद के दलिकों को क्रोधा में गुण संक्रमण से संक्रमित करता हुआ, चरम समय में सर्व संक्रमण से संक्रमित करता है। इस प्रकार पुरुष वेद क्षीण हो जाता है। अवश्वकरण काल समाप्त होने पर किटिकरण काल में प्रवेश करता है। उसमें प्रविष्ट हुआ चारों संज्वलन कषायों के ऊपरितन स्थितिगत दलिकों की किटी करता है। वे किटियां परमार्थतः अनन्त होने पर भी स्थूल भेद की अपेक्षा बारह होती हैं। एक-एक कषाय की तीन-तीन किटियां होती हैं। यथा-पहली, दूसरी, तीसरी। यह कथन संज्वलन क्रोधा के उदय से क्षपक श्रेणि प्रतिपन्न की अपेक्षा से जानना चाहिए। जब संज्वलन मान के उदय से श्रेणि चढ़ता है, तब उद्वलना विधा से क्रोधा । का क्षय होने पर शेष तीन कषायों की पूर्वक्रम से नौ किटियां करता है। यदि माया के उदय से क्षपक श्रेणि चढ़ता है तो संज्वलन क्रोधामान का उद्वलना विधा से क्षय होने पर शेष दो संज्वलन कषायों की पूर्वक्रम से छः किटियां करता है। यदि संज्वलन लोभ के उदय से श्रेणि चढ़ता है तो उद्वलना विधि । से क्रोधा, मान, माया के क्षय होने पर लोभ की तीन किटियां करता है। यह किटीकरण विधा है। किटीकरण क्षायिक समकृति चरम शरीरी जीव क्षपक श्रेणि प्रारंभ करता है। क्षपक श्रेणि का प्रस्थापक मनुष्य ही होता है। वह आठ वर्ष से अधिक उम्रवाला, उत्तम संहनन वाला, शु) ध्यान वाला, अविरत सम्यक्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त संयत में से कोई एक होता है। इस संबंध में विशेषावश्यकभाष्य में भी कहा है-

1. ऋकऋ कर्मग्रंथ ऋभाग 6ऋ टीकाकार- आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, पृ. 730

६४ऋ आवश्यकसूत्रम् ६५पूर्वभागऋ टीकाकार- मलयगिरि, पृ. 126-27

पडिवतीए अविरयदेस पमत्तापमत्तविरयाणं।

अन्नयरो पडिवज्जइ शु)ज्झाणोवगयचित्तो।।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/70

काल समाप्त होने पर क्रोधा के उदय से श्रेणि चढ़ा हुआ क्रोधा की प्रथम किटी के द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिक को अपकर्षण कर प्रथम स्थिति करता है और समयाधिक आवलिका मात्र काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। तदनन्तर दूसरी किटी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण कर प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक आवलिका प्रमाण काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किटी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और समयाधिक आवलिका प्रमाण काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। इन तीनों किटियों के वेदनकाल में उपरितन स्थितिगत दलिकों को गुणसंक्रम से भी प्रति समय असंख्येय गुणवृत्ति लक्षण से संज्वलन मान में प्रक्षिप्त करता है। तीसरी किटी के वेदनकाल के चरम समय में संज्वलन क्रोधा के बंधा, उदय, उदीरणा का एक साथ व्यवच्छेद और सत्ता भी समय कम आवलिका द्विक को छोड़कर नहीं रहती क्योंकि संपूर्ण का मान में प्रक्षेप हो जाता है। तत्पश्चात् मान की प्रथम किटी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसका वेदन करता है। क्रोधा के भी बन्धादि का व्यवच्छेद होने पर तत्संबंधी दलिकों को समय कम आवलिकाद्विक मात्रकाल से गुणसंक्रम से संक्रमित करता हुआ चरम समय में सर्व संक्रमण से संक्रमित करता है। मान का भी प्रथम स्थितिकृत प्रथम किटी दलिक का समयाधिक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। तदनन्तर समय में मान की दूसरी किटी के दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक समय अधिक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किटी को दूसरी स्थिति में स्थित दलिकों का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और समयाधिक आवलिका शेष रहने पर्यन्त उसका वेदन करता है। इसी समय मान के बंधा, उदय और उदीरणा का व्यवच्छेद हो जाता है। सत्ता कर्म भी समय कम आवलिका द्विक ही रहता है। शेष को संज्वलन माया में प्रक्षिप्त कर देता है।

तत्पश्चात् माया की प्रथम किटी के दूसरे समय में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त उसका वेदन करता है तथा मान के बंधादि का व्यवच्छेद होने पर तत्संबंधी दलिकों को एक समय कम आवलिका द्विक मात्रकाल से गुणसंक्रमण द्वारा माया में प्रक्षिप्त करता है। माया की प्रथम किटी का एक समय अधिक एक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। तत्पश्चात् माया की दूसरी किटी के दूसरी

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/71

स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और समयाधिक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् माया की तीसरी किटी के दूसरी स्थिति में स्थित दलिकों का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका समयाधिक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है। इसी समय माया के बन्धा, उदय, उदीरणा का एक साथ विच्छेद हो जाता है। उसका सत्ता कर्म भी आवलिका (द्विकब) मात्र ही रहता है क्योंकि शेष का गुणसंक्रम के द्वारा लोभ में प्रक्षेप हो जाता है।

तत्पश्चात् लोभ की प्रथम किटी के दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उसका वेदन करता है तथा संज्वलन माया के बन्धादि का व्यवच्छेद होने पर उससे संबंधित दलिकों के समय कम आवलिकाद्विक मात्रकाल से गुणसंक्रमण से संपूर्ण का लोभ में निक्षेप करता है तथा लोभ की प्रथम किटी का एक समय अधिका आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त वेदन करता है।

तदनन्तर लोभ की दूसरी किटी के दूसरी स्थिति में स्थित दलिक को अपकर्षित करके प्रथम स्थिति करता है और समयाधिक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त उसका वेदन करता है। उसको वेदन करता हुआ तृतीय किटी दलिका को ग्रहण कर सूक्ष्म किटी तब तक करता है जब तक प्रथम स्थिति किये हुए द्वितीय किटी दलिक का समयाधिक आवलिका मात्रकाल शेष रहता है। इसी समय संज्वलन लोभ का बंधा विच्छेद, बादर कषाय उदीरणा का व्यवच्छेद, अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान का युगपत् व्यवच्छेद हो जाता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म किटी के दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका वेदन करता है तब यह जीव सूक्ष्म संपराय कहलाता है। शेष रही हुई संपूर्ण तृतीय किटीगत आवलिका को वेद्यमान पर प्रकृतियों में स्तिबुक संक्रम से संक्रमित करता है। प्रथम द्वितीय किटीगत अवशिष्ट दलिकों को क्रमशः द्वितीय, तृतीय किटी के दलिकों के अन्तर्गत वेदन करता है और सूक्ष्म संपराय लोभ के सूक्ष्म किटी का वेदन करता हुआ समय कम आवलिका (द्विकब) सूक्ष्म किटी दलिक को प्रति समय स्थिति घातादि से तब तक क्षय करता है जब तक सूक्ष्म संपराय अ)I का संख्येय भाग व्यतीत हो जाता है, एक भाग शेष रहता है। तत्पश्चात् उस संख्येय भाग में संज्वलन लोभ को सर्वअपवर्तना से अपवर्तित कर सूक्ष्म संपराय अ)I के समान करता है। तत्पश्चात् संज्वलन लोभ के स्थितिघातादि रुक जाते हैं किन्तु शेष कर्मों के स्थितिघातादि कार्य होते हैं।

लोभ की उस अपवर्तित स्थिति को उदय उदीरणा से समयाधिक आवलिका शेष रहने पर्यन्त वेदन करता हुआ करता है। उसके अनन्तर समय में उदीरणा रुक जाती है। तब चरम समय पर्यन्त उन प्रकृतियों का उदय से ही वेदन किया जाता है। उस चरम समय में ज्ञानावरण पंचक, दर्शनावरण चतुष्क, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, अन्तराय पंचक रूप सोलह प्रकृतियों का बंधा व्यवच्छेद और मोहनीय की उदय और सत्ता का व्यवच्छेद हो जाता है।

उपसंहार करते हुए कहते हैं कि पुरुषवेद के बंधादि का व्यवच्छेद होने पर उसको गुण संक्रमण द्वारा संज्वलन क्रोधा में संक्रमण करता है। संज्वलन क्रोधा के बन्धादि का विच्छेद होने पर उसको संज्वलन मान में संक्रमित करता है। संज्वलन मान के बन्धादि का विच्छेद होने पर उसको गुण संक्रमण द्वारा संज्वलन माया में संक्रमित करता है। संज्वलन माया के बन्धादि का व्यवच्छेद होने पर उसको गुणसंक्रम द्वारा संज्वलन लोभ में संक्रमित करता है। संज्वलन लोभ के बंधादि का विच्छेद होने पर सूक्ष्म किटिगत लोभ का भी विनाश कर देता है। इस प्रकार लोभ का पूरी तरह क्षय हो जाने के पश्चात् क्षीण कषायी हो जाता है। क्षीण कषाय काल के संख्येय भाग व्यतीत होने पर्यन्त मोहनीय के अतिरिक्त शेष कर्मों के स्थितिघातादि कार्य पहले के समान ही होते रहते हैं किन्तु जब एक संख्येय भाग शेष रह जाता है तब ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पाँच और निद्राद्विक इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति सत्ता सर्वअपवर्तना से अपवर्तित करके क्षीण कषाय के अवशिष्ट काल के बराबर करता है। केवल निद्राद्विक की स्थिति स्वरूप की अपेक्षा एक समय कम करता है। सामान्य कर्म की अपेक्षा तो इनकी स्थिति शेष कर्मों के समान ही रहती है। वह क्षीण कषाय अ)। अब भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अवशेष है। इन प्रकृतियों की स्थिति क्षीण कषाय अ)। के बराबर होते ही इनमें स्थितिघातादि कार्य नहीं होते किन्तु शेष कर्मों के होते हैं। निद्राद्विक के बिना शेष चौदह प्रकृतियों का एक समय अधिका एक आवलिका काल शेष रहने पर्यन्त उदय उदीरणा दोनों होते हैं। अनन्तर एक आवलिका पर्यन्त उदय ही होता है। क्षीण कषाय के उपान्त्य समय में निद्राद्विक का स्वरूप सत्ता की अपेक्षा क्षय करता है और अन्तिम समय में शेष चौदह प्रकृतियों का क्षय करता है। सूत्रकार भी कहते हैं-

“खीणकसायदुचरिमे निद्वा पयला य हणइ छउमत्थो।

आवरणमंतराए छउमत्थो चरिम समयम्मि।”<sup>11</sup>

इसके अनन्तर समय में जीव सयोगिकेवली होता है। वह संपूर्ण



लोक-अलोक को सर्वात्मना जानता-देखता है।

### १३. सयोगी केवलि गुणस्थान का स्वरूप

बारहवें गुणस्थान के अन्त में तीन घाती कर्मों का क्षय करके तेरहवें सयोगी केवलि गुणस्थान की प्राप्ति होती है<sup>2</sup> यहाँ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान में जो परिपूर्ण विशु) क्षायिक भाव होता है, वह सादि अनन्त है। अतः जैसी क्षायिक समकित विशु) की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान में है वैसी ही चौदहवें गुणस्थान और सि)ों में भी है। इस गुणस्थानवर्ती जीव सयोगी केवलि अरिहंत की संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं।<sup>3</sup> इनको इस गुणस्थान में प्रवेश करते ही निम्न दस लब्धियों की प्राप्ति होती है- ६1ऋ अनन्त दान लब्धि, ६2ऋ अनन्त लाभ लब्धि, ६3ऋ अनन्त भोग लब्धि, ६4ऋ अनन्त उपभोग लब्धि, ६5ऋ अनन्त वीर्य लब्धि, ६6ऋ केवल ज्ञान लब्धि, ६7ऋ केवल दर्शन लब्धि, ६8ऋ शुक्ल ध्यान लब्धि, ६9ऋ क्षायिक सम्यक्त्व लब्धि और ६10ऋ यथाख्यातचारिः लब्धि।

यद्यपि क्षायिक समकित की प्राप्ति चौथे गुणस्थान में ही हो जाती है तथापि उसमें परिपूर्ण विशु) तेरहवें गुणस्थान में ही आती है जो सि) पर्यन्त बनी रहती है। इस अपेक्षा से ही क्षायिक समकित को सादि अनन्त कहा है। इस गुणस्थानवर्ती केवलि भगवन्तों के मन, वचन एवं काया इन तीनों योगों की प्रवृत्ति होती है। अनुत्तर विमानवासी अथवा मनः पर्यवज्ञानी द्वारा मन से पूछे गये प्रश्न का समाधान करने के लिए मनोवर्गणा रूप मनयोग का प्रयोग करते हैं, उपदेश देने के लिए वचन योग का, हलन-चलनादि क्रियाएँ करने के लिए काया योग का प्रयोग करते हैं।<sup>4</sup>

1. कर्मग्रन्थ, भाग 6, टीका. आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3 'खवगसेदि' पृ. 629-31
2. 'उप्यन्मि अणंते नठमि य छाउमत्थिए नाणे'  
-सटीकाश्चत्वारः प्राचीन कर्मग्रन्थाः ६कर्मस्तवऋ, पृष्ठ 5
3. वही, पृष्ठ 5
4. प्रज्ञापनोपांगम्, उत्तरार्धम्, टीकाकार आचार्य मलयगिरि, पत्रक 606, सूत्र 36/348

ये सयोगी केवली भूत, भविष्य अथवा वर्तमान का ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसको वे भगवान नहीं देखते।<sup>1</sup> इस संबंध में विशेषावश्यकभाष्य में भी कहा है-

“संभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सत्वओ सव्वं

तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च।।<sup>12</sup>

इस प्रकार सयोगि केवली जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम देशो न पूर्वकोटि काल पर्यन्त विचरण करते हैं। उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघाती कर्म शेष रहते हैं। इनमें यदि वेदनीय, आयु और नाम कर्म की स्थिति अधिका और आयु कर्म की स्थिति कम हो तो इन चारों कर्मों की स्थिति बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं। यदि चारों कर्मों की स्थिति पहले से ही समान हो तो समुद्घात नहीं करते। इस संबंधा में प्रज्ञापनासूत्र में भी कहा है-

‘सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?

गोयमा ! नो इण्ठे समठे।

जस्साउएण तुल्लाईं बंधाणोहि ठिईहि य।

भवोवग्गहकम्माइं न समुग्घायं स गच्छइ।।

अंगतूणे समुग्घायमणंता केवली जिणा।

जरमरणविप्पमुक्का सि) वरगइं गया।।<sup>3</sup>

इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में समुद्घात करके या नहीं करके भावोपग्राही कर्मों का क्षय करने के लिए लेश्यातीत अत्यन्त अप्रकम्प परम निर्जरा का कारण-भूत ध्यान को स्वीकार करने के लिए योग निरोधा के लिए उपक्रम करते हैं। वहाँ पर पहले बादर कायायोग से बादर मनोयोग का निरोधा करते हैं। तत्पश्चात् बादर वचनयोग का निरोधा करते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म कायायोग से तदनन्तर क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और वचनयोग का निरोधा करते हैं।<sup>4</sup>

1. कर्मग्रन्थ ६भाग 6ऋ, टीका, आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, खवगसेढि पृ. 729-31

2. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1342

3. प्रज्ञापनोपांगम् पद 36

4. कर्मग्रन्थ, भाग 6, टीका. आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3 ‘खवगसेढि’ पृ. 629-31

#### १४. अयोगी केवलि गुणस्थान का स्वरूप

जो केवलि भगवन्त सूक्ष्म काया योग से सूक्ष्म मन योग तथा सूक्ष्म वचन योग का निरोधा कर देते हैं और अन्त में सूक्ष्म क्रिया\*निवृत्ति शुक्ल ध्यान के बल से सूक्ष्म काया योग का भी निरोधा कर देते हैं, वे अयोगी अवस्था

को प्राप्त अयोगी केवल कहलाते हैं।<sup>1</sup>

वे सूक्ष्म काया योग को भी रोकते हुए सूक्ष्म क्रिया\*प्रतिपाती ध्यान पर आरोहण करते हैं। उस सामर्थ्य से वदन उदरादि विवर पूर्ण करने से देह के त्रिभागवर्ती आत्म-प्रदेश होते हैं। उस ध्यान में वर्तमान स्थितिघातादि से आयु को छोड़कर शेष सभी भवोपग्राही कर्मों को तब तक अपवर्तित करता है जब तक सयोगी अवस्था का चरम समय प्राप्त न हो जाये। उस सयोगी अवस्था के चरम समय में सभी कर्मों की स्थिति अयोगी अवस्था जितनी हो जाती है। यहाँ विशेष यह है कि जिन कर्मों का अयोगी अवस्था में उदयभाव है उनकी स्थिति स्वरूप की अपेक्षा समय कम करता है और कर्मत्व मात्र रूपता की अपेक्षा अयोगी अवस्था के समान ही स्थिति करता है, दूसरा सयोगी अवस्था के चरम समय में दोनों में से कोई एक वेदनीय, औदारिक तैजस, कार्मण संबंधी बन्धान संघातन, संस्थान षट्क, प्रथम संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णादि चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ-अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, निर्माण नाम के उदय-उदीरणा का व्यवच्छेद हो जाता है। तत्पश्चात् अनन्तर समय में आयोगी केवली होता है। अयोगी केवली भवस्थ जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त होता है। वह उस अवस्था में वर्तमान भवोपग्राही कर्मक्षय करने के लिए समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति ध्यान पर आरोहण करता है। इस प्रकार यह अयोगी केवली स्थितिघातादि से रहित जितने उदयवर्ती कर्म हैं उनका स्थितिक्षय से अनुभव करता हुआ जो उदय में नहीं है उनको वेद्यमान प्रकृतियों में स्तिबुक संक्रम से संक्रमित करता हुआ वेद्यमान प्रकृतियों के साथ तब तक वेदन करता है जब तक अयोगी अवस्था का द्विचरम स म य रहता है।

1. समुद्घातान्निवृत्तौ\*सौ, मनोवाक्काययोगवान्।  
धयायेद्योगनिरोधार्थं, शुक्लध्यानं तृतीयकम्॥

आत्मस्पन्दात्मिका, क्रिया यत्र निवृत्तिका।

तृतीयं ऋ वेच्छुक्लं, सूक्ष्म क्रियानिवृत्तिकम्॥

-गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 94-95

देवगति के साथ बंधाने वाली प्रकृतियाँ वैक्रिय-आहारक शरीर, वैक्रिय आहारक बन्धान, वैक्रिय-आहारक संघातन, वैक्रिय-आहारक अंगोपांग देवगति, देवानुपूर्वी ये प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय हो जाती हैं और इसी द्विचरम समय में अनुदयवर्ती प्रकृतियाँ ये हैं-औदारिक, तैजस,

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/76

कर्मणशरीर, औदारिक तैजस, कर्मण बन्धान, संघातन, संस्थान षट्क, संहनन षट्क, औदारिक अंगोपांग, वर्ण, गन्धा, रस, स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, प्रशस्त-अप्रशस्त, विहायोगति, प्रत्येक, अपर्याप्त, उच्छवास, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, क्षयकीर्ति, निर्माण तथा नीचगोत्र, दो में से कोई एक वेदनीय ये सैंतालीस प्रकृतियाँ भी क्षय को प्राप्त होती हैं।

साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, उच्चगोत्र मनुष्यगति, मनुष्यजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशकीर्ति और तीर्थकर नाम इन बारह का अथवा तीर्थकरनाम रहित ग्यारह प्रकृतियों का अयोगिकेवली वेदन करते हैं।

**अन्य आचार्यों का अभिमत :-** इस संबंधा में अन्य आचार्यों का अभिमत है कि मनुष्यानुपूर्वी सहित उत्कृष्ट तेरह प्रकृतियों की जघन्य तीर्थकर नाम सहित बारह प्रकृतियों की सत्ता अयोगिकेवली को चरम समय में क्षीण होती है। मनुष्यायु भवविपाकी, मनुष्यानुपूर्वी क्षेत्रविपाकी, शेष नाम कर्म की नौ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं। किन्तु अन्य आचार्यों का अभिमत है कि मनुष्यानुपूर्वी का द्विचरम में विच्छेद होता है क्योंकि इसका उस समय उदय नहीं होता। उदयवर्ती प्रकृतियों का स्तिबुक संक्रम का अभाव होने से चरम समय में स्वस्वरूप दो दलिक उदय में रहते हैं, इसलिए उनका चरम समय में सत्ता व्यवच्छेद होता है। चारों आनुपूर्वी नाम तो चारों क्षेत्रविपाकी होने से भवान्तराल गति में ही उनका उदय संभव होने से भवरथ जीव को उसका उदय नहीं होता। इसलिए आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय असंभव होने से अयोगी अवस्था के द्विचरम समय में ही मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता का विच्छेद हो जाता है। इसी मत की अपेक्षा पहले द्विचरम समय में सैंतालीस प्रकृतियों का व्यवच्छेद दिखलाया गया है। चरम समय में उत्कृष्ट बारह जघन्य ग्यारह कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तत्पश्चात् ;जु श्रेणि से यहाँ आत्म-प्रदेश जितने आकाश प्रदेश को अवगाढ़ करके रहे हुए हैं उतने ही आकाश प्रदेशों को अवगाढ़ करके विवक्षित समय से अन्य समय का स्पर्श नहीं करते हुए एरण्ड के तल के समान जीव के स्वभाव विशेष से ऊपर जाकर लोकान्त में

स्थित हो जाते हैं।<sup>1</sup>

लोक के अग्रभाग में स्थित ये सि) परमात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाधा सुख, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, अक्षयस्थिति द्धअटल अवगाहनात्र, अरूपी और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों से संपृक्त हो, सदा-सदा

के लिए कृत-कृत्य बन जाते हैं। ये कर्मबीज रहित होने से पुनः संसार में लौटकर नहीं आते हैं।<sup>2</sup>

## २. द्वितीय अधिकाकार : काय स्थिति

काय स्थिति की अपेक्षा प्रथम गुणस्थान के तीन भंग प्राप्त होते हैं<sup>3</sup>-  
द्वि1ऋ अनादि अनन्त, द्वि2ऋ अनादि सान्त और द्वि3ऋ सादि सान्त। अनादि अनन्त जाति भव्य अथवा अभव्य वह मिथ्यात्वी जीव है जिसका मिथ्यात्व कभी भी दूर नहीं होता, इसी कारण वह जीव मुक्ति पद का अधिकाकारी भी नहीं बनता। जो भव्य अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, वह अनादि सान्त मिथ्यात्वी जीव है तथा जो जीव मिथ्यात्व से सम्यक्त्व प्राप्त कर, पुनः सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व प्राप्त कर, पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा, वह सादिसान्त मिथ्यादृष्टि है। इनमें से प्रथम दो भंगों की स्थिति निश्चित रूपेण प्रतिपादित नहीं की जा सकती, तृतीय भंग की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि सम्यक्त्व से पतित मिथ्यात्व को प्राप्त जीव पुनः अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। उत्कृष्ट स्थिति देशोन अर्धापुद्गल परावर्तन काल है क्योंकि इतने समय पश्चात् प्रतिपतित सम्यक्दृष्टि अवश्यमेव पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर मुक्त बन जाता है।<sup>4</sup>

सास्वादन गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय उत्कृष्ट छः आवलिका है उसके पश्चात् जीव अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

1. कर्मग्रन्थ द्विभाग 6ऋ टीकाकार आ. मलयगिरि, उद्धृत- अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग 3, द्विखण्डसंदिग्ध पृ. 729-32
2. द्विऋ अनुयोगद्वार, क्षायिक भाव, पृष्ठ 117, सू. 126  
द्विऋ प्रवचनसारोद्धार, गाथा 1593-94  
द्विऋ समवयांगसूत्र, समवाय 31
3. पंचसंग्रह, द्वितीय द्वार, गाथा 70
4. होइ अणाइ अणंतो अणाइ संतो य साइसंतो य।  
देसूण पोग्गल) अंतमुहूर्तं चरिमिच्छो।।  
-पंचसंग्रह द्वितीय, गाथा 70

मिश्र गुणस्थान तथा औपशमिक सम्यक्त्व का कालमान जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यहाँ जघन्य से उत्कृष्ट का अन्तर्मुहूर्त अधिक काल वाला है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के अनेक भेद हैं। उपशम श्रेणि भावी औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है क्योंकि उपशम श्रेणि का कालमान अन्तर्मुहूर्त

प्रमाण हैं।<sup>1</sup> उपशम श्रेणि नहीं करने वाले औपशमिक सम्यक्त्व के उपशम समकित का अवस्थान काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है क्योंकि उसके पश्चात् जीव क्षायोपशमिक, मिश्र, सास्वादन अथवा मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त हो जाता है। क्षायिक समकित का काल अनन्त है क्योंकि वह आने के बाद जाती नहीं है।<sup>2</sup>

क्षायोपशमिक अविरत सम्यक् दृष्टि की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक तैंतीस सागरोपम है। जैसे- क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि जीव मनुष्य गति से उत्कृष्ट स्थिति वाले अनुत्तर विमानवासी देवों में उत्पन्न हुआ, वहाँ से च्युत होकर यहाँ आया और जब तक सर्वविरति को प्राप्त नहीं हुआ, तब तक उसे अविरत क्षयोपशम सम्यक् दृष्टि की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की प्राप्त होती है।<sup>3</sup>

देशविरति की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति देशोनपूर्वकोटि की है। कोई भी अविरत सम्यक् दृष्टि देशविरति को प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त में मरण को प्राप्त हो जाये अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त हो जावे तब उसकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त होती है। उत्कृष्ट देशोनपूर्व कोटि इस प्रकार जानना चाहिए कि पूर्वकोटि की आयुष्य वाला आठ वर्ष सात मास पूर्व देशविरति अथवा सर्वविरति को प्रायः स्वीकार नहीं करता। अतः पूर्व कोटि में से इतना कालमान कम कर देने पर देशोनपूर्वकोटि कालमान प्राप्त होता है।<sup>4</sup> प्रमत्ताप्रमत्त का कालमान जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है, इसके पश्चात् निश्चय ही भावों में परिवर्तन आ जाता है लेकिन प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त में जाने का द्वन्द्वों का सयुक्तऋ उत्कृष्ट कालमान देशोनपूर्व कोटि है क्योंकि उत्कृष्ट संयम पालन की अवधि इतनी ही है।<sup>5</sup>

क्षम श्रेणि करने वाले जीव की आठवें से बारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है। उपशम श्रेणि भावी जीव के आठवें से प्याह्रवें गुणस्थान का प्रत्येक काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण

1. वही, गाथा 76
2. वही, गाथा 76
3. वही, गाथा 77
4. वही, गाथा 77
5. वही, गाथा 78

है।<sup>1</sup> इसमें एक मत यह भी है कि अपूर्वकरण से लेकर उपशान्त कषाय गुणस्थान की प्रत्येक की स्थिति जघन्य एक समय की स्थिति इस प्रकार घटित होती है कि उपशम श्रेणि करने वाला कोई जीव अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में समय मात्र रहकर अथवा, अन्य कोई जीव अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान में समय मात्र रहकर, अथवा अन्य कोई जीव उपशान्त मोहनीय गुणस्थान में समय मात्र

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/79

रहकर दूसरे समय में मरकर अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और वहां उत्पन्न होते ही अविरति हो जाता है। इस अपेक्षा से इन गुणस्थानों का जघन्य अवस्थान काल एक समय माना गया है।<sup>2</sup> किन्तु जो इन गुणस्थानों में मरण को प्राप्त नहीं होते उनके दस गुणस्थान का जघन्य कालमान भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।<sup>3</sup>

तेरहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि है। वह इस प्रकार घटित होती है, जैसे-किसी जीव ने सात माह गर्भ में रहकर आठ वर्ष का होने के पश्चात् चारित्र्य स्वीकार किया और उसे शीघ्र ही केवल ज्ञान हो गया। उस अपेक्षा से उत्कृष्ट देशोनपूर्व कोटि का कालमान घटित होता है। चौदहवें गुणस्थान की स्थिति मध्यम रूप से पांच लघु अक्षर गिनने जितनी है।<sup>4</sup>

### ३. तृतीय अधिकाकार : योग

पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़कर तेरह योग होते हैं। आहारक और आहारक मिश्र ये दो योग चौदहपूर्वियों के होते हैं। उपर्युक्त तीनों गुणस्थानों में चतुर्दशपूर्वियों का होना असम्भव होने से इनमें तेरह योग पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में औदारिक मिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कर्मण को छोड़कर दस योग होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव को चतुर्दशपूर्वों का ज्ञान नहीं होने से कर्मण काया योग भी इस गुणस्थान में नहीं होता। औदारिक एवं वैक्रियमिश्र भी इस गुणस्थान में नहीं होते क्योंकि ये दो योग या तो अपर्याप्त अवस्था में होते हैं अथवा उत्तर वैक्रिय करने के प्रसंग से होते हैं। उक्त दोनों अवस्थाएं तीसरे

1. अतः परं प्रमत्तादिगुणस्थानकसप्तके।

अन्तर्मुहूर्तमेकैकं, प्रत्येकं गदिता स्थितिः॥

- गुणस्थान क्रमारोह, गाथा 29

2. पंचसंग्रह, द्वितीय द्वार, गाथा 79

3. पंचसंग्रह, द्वितीय द्वार, गाथा 79

4. वही गाथा 79

गुणस्थानवर्ती जीव के नहीं होती है क्योंकि तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव न तो मृत्यु को प्राप्त कर परभव में गमन करते हैं और न ही वे वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करते हैं। अतः इस अपेक्षा से भी इस गुणस्थान में वैक्रियमिश्र एवं औदारिकमिश्र नहीं होता। देशविरति गुणस्थान में कर्मण, आहारक और आहारक मिश्र इन तीन को छोड़कर बारह योग होते हैं क्योंकि चतुर्दशपूर्वों के अभाव में आहारक, आहारक मिश्र एवं पर्याप्त अवस्था में यह गुणस्थान नहीं होने से कर्मण काया

योग नहीं होता।<sup>1</sup>

प्रमत्त संयत गुणस्थान में उपर्युक्त देशविरति में कहे गये बारह एवं आहारकद्विक को मिलाने पर चौदह योग संभव है। कर्मण कायायोग अपर्याप्त अवस्थाभावी एवं केवल समुद्घात में होने से वे यहां संभव नहीं है।

अप्रमत्त संयत में औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र, आहारकमिश्र एवं कर्मण को छोड़कर शेष ग्यारह योग पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि औदारिक मिश्र एवं कर्मण अपर्याप्त अवस्था भावी होने से तथा वैक्रियमिश्र एवं आहारक मिश्र प्रमत्त अवस्था में ही पाये जाने से अप्रमत्त संयत में इनका सद्भाव नहीं होता।

आठवें से बारहवें गुणस्थान में निम्न नौ योग पाये जाते हैं—चार मनोयोग, चार वचन योग एवं एक औदारिक कायायोग। इनके अतिरिक्त शेष छः योग इनमें नहीं पाये जाते क्योंकि ये पांच गुणस्थान विग्रहगति, केवल समुद्घात और अपर्याप्त अवस्था में नहीं पाये जाते। अतः अपर्याप्त अवस्था तथा केवल समुद्घात का अभाव होने से औदारिक मिश्र एवं कर्मण तथा प्रमादजन्य लब्धि 1 के प्रयोग का अभाव होने से वैक्रियद्विक एवं आहारकद्विक इन गुणस्थानों में नहीं पाये जाते।

सयोगी केवल में कर्मण, औदारिक, औदारिकमिश्र, सत्यभाषा, व्यवहार भाषा, सत्य मन योग तथा व्यवहार मन योग से सात योग होते हैं। इन सात योगों में से केवल समुद्घात के समय कर्मण एवं औदारिक मिश्र कायायोग तथा अन्य समयों में औदारिक का योग होता है। अतः समुद्घात नहीं करने वाले में पांच योग पाये जाते हैं। अनुत्तर विमानवासी तथा मनः पर्यवज्ञानी द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देने में मनयोगद्विक एवं उपदेश देते समय वचनयोगद्विक होते हैं। अयोगी केवल में योग का अभाव होता है।<sup>2</sup>

1. षड्शीति प्रकाश : ऋचतुर्थ कर्म ग्रन्थऋ,पत्रकं 84, गाथा 46

2. षड्शीति प्रकाश : ऋचतुर्थ कर्म ग्रन्थऋ,पत्रकं 84-85, गाथा 46-47

#### ४. चतुर्थ अधिकाकार : लेश्या

पहले से छठे गुणस्थान पर्यन्त छहों द्रव्य लेश्याएं हो सकती हैं किन्तु छठे गुणस्थान में भावलेश्या तीन ही होती हैं— ऋ1ऋ कृष्ण ऋ2ऋ नील और ऋ3ऋ कापोत। भावलेश्या और द्रव्य लेश्या की विस्तृत चर्चा 'सद्धर्म मण्डनम्' पुस्तक में विस्तारपूर्वक की गई है।

जिज्ञासा— इन गुणस्थानों में द्रव्य लेश्या छहों होने पर भी भाव लेश्या



तीन ही कैसे पायी जाती है ?

**समाधान**—जैसे किसी व्यक्ति ने अपने शरीर पर काली मिट्टी का लेप लगा दिया। लेप लगाने के कुछ समय पश्चात् उसका चिन्तन चला कि लेप लगाने से मेरा शरीर कुरूप दिखने लगा है, अतः इसे हटा देना चाहिए। चिन्तन के पश्चात् वह मिट्टी के लेप को हटाने लगता है। वैसे ही आत्मा पर अशुभ द्रव्य लेश्या रूपी लेप लगा है। उसे हटाने का विचार आने रूप भाव लेश्या के आते ही द्रव्य लेप हटाया नहीं जा सकता, उसे हटाने में समय लगता है। उस स्थिति में भाव लेश्याएं तीन होने पर भी द्रव्य लेश्याएं छहों पाई जाती हैं। सातवें गुणस्थान में तीन लेश्याएं ढ़1ः तेजो ढ़2ः पद्म ढ़3ः शुक्ल तथा आठवें से तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त एक लेश्या— शुक्ल ही पाई जाती है। चौदहवें गुणस्थान में कोई लेश्या नहीं पाई जाती है।<sup>1</sup>

#### ५. पंचम अधिकाकार : कारण

बन्धा के पांच कारण हैं - ढ़1ः मिथ्यात्व, ढ़2ः अविरति, ढ़3ः प्रमाद, ढ़4ः कषाय एवं ढ़5ः योग।

पहले और तीसरे गुणस्थान में ये पांचों कारण पाये जाते हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार कारण पाये जाते हैं। पांचवें और छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं अविरति को छोड़कर शेष तीन कारण पाये जाते हैं। सातवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त कषाय एवं योग ये दो कारण पाये जाते हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में मात्र एक कारण— योग ही पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थान में बन्धा का कारण नहीं होने से किसी भी प्रकृति का बन्धा नहीं होता है।

1. मतान्तर हेतु द्रष्टव्य है— ढ़कः कर्मग्रन्थ-व्याख्याकार-पं. सुखलाल संघवी, पृष्ठ 172, गाथा 50  
ढ़खः स)र्मण्डनम्, लेश्या अधिकाकार, पृष्ठ 309-327

#### ६. षष्ठम अधिकाकार : बन्धा हेतु

बन्धा के कुल सत्तावन हेतु हैं। यथा—पांच मिथ्यात्व, पच्चीस कषाय, पन्द्रह योग, बारह अव्रत ढ़छः काया, पांच इन्द्रिय और एक मनः इन सत्तावन बन्धा हेतुओं में से आहारकद्विक को कम करने पर पहले गुणस्थान में पचपन बन्धा हेतु पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में संयम का अभाव होने से आहारकद्विक नहीं पाया जाता। दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने से इन पचपन में से पांच मिथ्यात्व के अतिरिक्त शेष पचास

बन्धा हेतु पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में पचास में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क, औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण को कम करने पर शेष तियालिस बन्ध 1 हेतु पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय दूसरे स्थान तक होता है तथा इस गुणस्थान में मृत्यु का अभाव होने से वैक्रिय मिश्र, औदारिक मिश्र एवं कार्मण ये तीन बन्धा हेतु मिलाने से छियालिस बन्धा हेतु होते हैं। पांचवें देशविरति गुणस्थान में उनचालीस बन्धा हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का उदय नहीं होता तथा आकुटी की बु) से त्रस जीव की हिंसा का त्याग होने से त्रस की अविरति नहीं होती तथा यह गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थाभावी नहीं होने से कार्मण एवं औदारिक मिश्र नहीं होता अतः इन सात बंधा हेतुओं को कम करने पर उनचालीस बंधा हेतु ही इस पंचम गुणस्थान में होते हैं।<sup>1</sup> छठे गुणस्थान में बंधा हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि यह गुणस्थान सर्वविरति रूप होने से शेष ग्यारह अव्रत एवं प्रत्याख्यानी चतुष्क का उदय नहीं होने से इन पन्द्रह को कम करने तथा आहारकद्विक को जोड़ने पर इस गुणस्थान में छब्बीस बंधा हेतु होते हैं।

सातवें गुणस्थान में प्रमादजन्य होने वाले वैक्रिय मिश्र एवं आहारक मिश्र को छोड़कर चौबीस बंधा हेतु हैं। आठवें गुणस्थान में आहारक और वैक्रिय योग को छोड़कर बाईस बंधा हेतु होते हैं। नौवें गुणस्थान में हास्यादि

1. पणपन्न मिच्छिहारगदुगूण सासाणि पन्नमिच्छा विणा।  
मिस्सदुग कम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता।।  
सदुमिस्स कम्म अजए अविरइ कम्मुरलमीसविकसाए।  
मुत्तुगुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते।।  
-षड्शीति प्रकाशः गाथा 55-56

षट्क का उदय नहीं होने से सोलह बंधा हेतु होते हैं। दसवें गुणस्थान में दस बंध 1 हेतु होते हैं क्योंकि पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोधा, मान, माया का उदय नौवें गुणस्थान पर्यन्त होने से इनको कम करने पर दस बंधा हेतु होते हैं। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का उदय नहीं होने से चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक काया योग के, इस प्रकार कुल नौ बंधा हेतु होते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में औदारिक, औदारिक मिश्र एवं कार्मण तथा सत्य

मनयोग, व्यवहार मनयोग, सत्यभाषा और व्यवहार भाषा ये सात बंधा हेतु होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में बंधा हेतु नहीं होते।<sup>1</sup> बन्धा हेतुओं का उपर्युक्त वर्णन कार्मग्रन्थिक मान्यातानुसार है। सै)ांतिक मान्यतानुसार इसमें कुछ भिन्नता भी दृष्टिगत होती है। सि)ांतानुसार पांचवें गुणस्थान में उनचालीस के बजाय चालीस बन्धा हेतु हो सकते हैं क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव में औदारिक मिश्र भी संभव है। वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य, तिर्यच जब वैक्रिय शरीर का त्याग कर औदारिक शरीर को ग्रहण करते हैं तब उनको औदारिक मिश्र काया योग पाया जाता है। इसी प्रकार षष्ठ गुणस्थानवर्ती वैक्रिय लब्धिधारी मुनि जब वैक्रिय शरीर का त्याग कर औदारिक शरीर ग्रहण करते हैं तब उनके औदारिक मिश्र संभव होता है। इस अपेक्षा से सत्ताईस बंधा हेतु सै)ांतिक मान्यतानुसार छोटे गुणस्थान में संभव है।<sup>2</sup>

#### ७. सप्तम अधिकाकार : बंधा

##### द्भअऋ मूल प्रकृतियों की अपेक्षा बन्धा

पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान पर्यन्त तीसरे गुणस्थान को छोड़कर सात-आठ कर्मों का बंधा होता है। जब आयु कर्म का बन्धा होता है

1. सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसविकसाए।  
मुत्तुगुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते।  
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।  
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्विया हारा।।  
अछहास सोलबायरि सुहुभेदस वेयसंजलणाति विणा।  
खीणुवसंति अलोभा सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा।।  
-षड्शीति प्रकाशः गाथा 56-58
2. भगवती सूत्रम् अ. वृत्ति, पत्रक 335-336

तब आठ कर्मों का, अन्यथा सात कर्मों का बन्धा इन गुणस्थानों में होता है। तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों का बंधा होता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय एवं आयु को छोड़कर छः कर्मों का बंधा होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक मात्र सातावेदनीय का बन्धा होता है। चौदहवें गुणस्थान में बन्धा हेतुओं का अभाव होने से बन्धा नहीं होता है।<sup>1</sup>

##### द्भबऋ उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा बन्धा

उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा एक सौ बीस प्रकृतियां बन्धा योग्य मानी गयी हैं। यथा- पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, छब्बीस मोहनीय, चार आयु, सतसठ नामकर्म, दो गोत्र और पांच अन्तराय। मोहनीय कर्म की अठाईस प्रकृतियों में सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय का बंधा नहीं होने से छब्बीस प्रकृतियों बन्धान योग्य मानी गयी हैं। नामकर्म की तिरानवें या एक सौ तीन प्रकृतियों में से सतसठ प्रकृतियां बंधा योग्य मानी गयी हैं क्योंकि शरीर नाम कर्म में बंधान और संघातन ये दोनों अविनाभावी हैं। अतः बंधा या उदयावस्था में शरीर नामकर्म में बन्धान या संघातन नामकर्म पृथक-पृथक नहीं गिने जाते हैं। इनका शरीर नाम प्रकृति में समावेश हो जाने से तथा वर्ण, गन्धा, रस एवं स्पर्श इन चार भेदों में भी अभेद विवक्षा से इनके बीस भेद शामिल हो जाने से बन्धा 1 और उदयावस्था में इन्हीं चार भेदों को ग्रहण करने पर नाम कर्म की सतसठ प्रकृतियाँ बन्धा योग्य होती हैं। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा से बन्धान योग्य कुल एक सौ बीस प्रकृतियां हैं<sup>2</sup> इनमें से प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ सतरह प्रकृतियों का बंधा होता है क्योंकि तीर्थकर नामकर्म का बंधा चतुर्थ गुणस्थान से एवं आहारकद्विक का बंधा अप्रमत्त गुणस्थान से पहले नहीं होता है। अतः इन तीन को कम करने पर एक सौ सतरह प्रकृतियों का बंधा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में होता है<sup>3</sup> दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के कारण बंधाने वाली नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति,

1. कर्मग्रन्थ, भाग 4, गाथा 59

2. कर्म. 2 कर्म, उद्धृत- द्दशब्द 'गुणठाण'ऋ अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग 3 पृष्ठ 918

3. द्वकऋ सटीकाश्चत्वारः पाचीनाः कर्मग्रंथाः द्वकर्मस्तवऋ पत्रक 6-7

द्वखऋ कर्म ग्रंथ, भाग 2, गाथा 3

स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम, हुण्डक संस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अंत में बंधा विच्छेद होने से एक सौ एक प्रकृतियों का बंधा होता है।<sup>1</sup>

अनन्तानुबंधी कषाय प्रथम, द्वितीय गुणस्थान में ही होने तथा तीसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय से बंधाने वाली पच्चीस कर्म प्रकृतियों का बंधा विच्छेद होने तथा इस गुणस्थान में आयु बंधा का अभाव होने से मनुष्यायु और

देवायु को कम करने का चहोत्तर प्रकृतियों का बंधा होता है।<sup>2</sup> पच्चीस प्रकृतियां इस प्रकार हैं-

1-3 तिर्यचञ्चिक - तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु।

4-6 स्त्यान(ि)ञ्चिक-निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यान(ि)।

7-9 दुर्भगञ्चिक- दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय।

10-13 अनंतानुबंधी चतुष्क- अनंतानुबंधी क्रोधा, मान, माया, लोभा

14-17 मध्यम संस्थान चतुष्क- न्यग्रोधा परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज।

18-21 मध्यम संहनन चतुष्क- षभ नाराच संहनन, नाराच, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन।

22 नीच गौत्र, 23 उद्योत नाम, 24 अप्रशस्तविहायोगति नाम और 25 स्त्रैवेद। चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु, देवायु और तीर्थकर नाम का बंधा होने से सतहत्तर प्रकृतियों का बंधा होता है।<sup>3</sup>

चौथे गुणस्थान के अंत में वज्र;षभनाराचसंहनन, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, अप्रत्याख्यानी चतुष्क, औदारिक शरीर तथा औदारिक अंगोपांग इन दस प्रकृतियों का बंधा विच्छेद होने से पांचवें गुणस्थान में सतसठ प्रकृतियों का ही बंधा होता है।<sup>4</sup> इन दस प्रकृतियों का पंचम गुणस्थान

1. ऋकऋ सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः ऋकर्मस्तवऋ पत्रक 7  
ऋखऋ कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 4
2. ऋकऋ सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः ऋकर्मस्तवऋ पत्रक 7  
ऋखऋ कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 4-5
3. कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 6
4. वही, गाथा 6

में इसलिए बंधा नहीं होता कि पंचम गुणस्थान में मनुष्य भव प्रायोग्य प्रकृतियों का बंधा नहीं होता, देव भव प्रायोग्य प्रकृतियों का ही बंधा होता है। अतः मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन प्रकृतियां केवल मनुष्य जन्म में तथा वज्र;षभनाराचसंहनन, औदारिक शरीर और औदारिक अंगोपांग ये तीन प्रकृतियां मनुष्य या तिर्यच जन्म में ही भोगने योग्य होने से इन छः प्रकृतियों का पांचवें से लेकर अंतिम गुणस्थान तक बंधा नहीं होता है। अप्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क का बंधा चौथे गुणस्थान के अंतिम समय तक ही होने से पांचवें गुणस्थान में

सतसठ प्रकृतियां ही बंधान योग्य शेष बचती हैं।<sup>1</sup>

पांचवें गुणस्थान के अंतिम समय में प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क का बंधा विच्छेद होने से छठे गुणस्थान में तरसठ प्रकृतियों का बंधा होता है क्योंकि प्रत्याख्यानी चतुष्क का बंधा पांचवें गुणस्थान पर्यंत ही होता है, छठे गुणस्थान में नहीं। इसका कारण यह है कि प्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का उदय रहते छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं होता।<sup>2</sup>

छठे गुणस्थान के अंतिम समय में शोक, अरति, अस्थिर नाम, अशुभ नाम, अयशकीर्तिनाम और असातावेदनीय इन छः प्रकृतियों का बंधा विच्छेद होने से तथा सप्तम गुणस्थान में आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग का बंधा होने से सप्तम गुणस्थान में बंधा योग्य उनसठ प्रकृतियों का बंधा होता है।

ज्ञातव्य है कि जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बंधा प्रारंभ करके उसको समाप्त किए बिना सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं और सातवें गुणस्थान में उसको पूरा करते हैं उनकी अपेक्षा से उनसठ प्रकृतियों का बंधा सातवें गुणस्थान में जानना चाहिए किन्तु जो जीव छठे गुणस्थान में ही देवायु का बंधा प्रारंभ कर वहीं समाप्त कर देते हैं उनकी अपेक्षा सातवें गुणस्थान में अठावन प्रकृतियों का बंधा जानना चाहिए।<sup>3</sup> आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में उपर्युक्त अठावन प्रकृतियों का ही बंधा होता है। पहले भाग के अंतिम समय में निद्रा एवं प्रचला इन दो का बंधा विच्छेद हो जाने से दूसरे से छठे भाग तक छप्पन प्रकृतियों का बंधा होता है।

1. वही, गाथा 6
2. वही, गाथा 6-7
3. वही, गाथा 7-8

---

छठे भाग के अंतिम समय में तीस प्रकृतियों का बंधा विच्छेद हो जाता है। यथा- ङ्क1३ देवगति, ङ्क2३ देवानुपूर्वी, ङ्क3३ पंचेन्द्रिय जाति, ङ्क4३ शुभ विहायोगति, ङ्क5३ त्रस नवक- त्रस, ङ्क6३ बादर, ङ्क7३ पर्याप्त, ङ्क8३ प्रत्येक, ङ्क9३ स्थिर, ङ्क10३ शुभ, ङ्क11३ शुभग, ङ्क12३ सुस्वर, ङ्क13३ आदेय, ङ्क14३ वैक्रिय शरीर, ङ्क15३ आहारक शरीर, ङ्क16३ तैजस शरीर, ङ्क17३ कार्मण शरीर, ङ्क18३ वैक्रिय अंगोपांग, ङ्क19३ आहारक अंगोपांग, ङ्क20३

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/87

समचतुरस्र संस्थान, २१ऋ निर्माण नाम, २२ऋ तीर्थकर नाम, २३-२६ऋ वर्ण चतुष्क- २३ऋ वर्ण, २४ऋ गंधा, २५ऋ रस और २६ऋ स्पर्श, २७-३०ऋ अगुरुलघु चतुष्क- २७ऋ अगुरुलघु, २८ऋ उपघात, २९ऋ पराघात और ३०ऋ उच्छ्वास। इस प्रकार छप्पन प्रकृतियों में से उपर्युक्त तीस प्रकृतियां कम कर देने पर छब्बीस प्रकृतियों का बंधा आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है।<sup>1</sup>

सातवें भाग के अंतिम समय में छब्बीस प्रकृतियों में हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन चार प्रकृतियों का बंधा-विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बाईस प्रकृतियों का बंधा होता है। पहले भाग के अंतिम समय में पुरुष वेद का बंधा विच्छेद हो जाने से दूसरे भाग में इक्कीस प्रकृतियों का बंधा होता है। दूसरे भाग के अंतिम समय में संज्वलन क्रोधा का विच्छेद होने से तीसरे भाग में बीस प्रकृतियों का बंधा होता है। तीसरे भाग के अंतिम समय में संज्वलन मान का बंधा-विच्छेद होने से चौथे भाग में उन्नीस प्रकृतियों का बंधा होता है। चौथे भाग के अंतिम समय में संज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के पांचवें भाग में अठारह प्रकृतियों का बंधा होता है। नौवें गुणस्थान के अंतिम समय में संज्वलन लोभ का बंधा विच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थान में सतरह प्रकृतियों का बंधा होता है। इसका कारण यह है कि दसवें गुणस्थान में भी बंधा के हेतु योग और सूक्ष्म कषाय विद्यमान होते हैं। उनमें से कषाय के निमित्त से चक्षुदर्शनादि चार दर्शनावरण, उच्चगोत्र, यशःकीर्ति, मतिज्ञानावरणीय आदि पांच ज्ञानावरण, दानान्तराय आदि पांच अंतराय एवं

1. अडवन्न अपुव्वाइमि निद्दुगंता छपन्न पणभागे।  
सुरदुग पणिदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा।।  
समचउरनिमिणज्जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।  
चरमे छवीस बंधो हासरईकुच्छभयमेओ।।  
-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 9-10

योग निमित्तिक बंधाने वाली सातावेदनीय इस प्रकार सतरह प्रकृतियों का बंधान होता है।<sup>1</sup>

दसवें गुणस्थान के अंत में कषाय निमित्तक बंधाने वाली सोलह प्रकृतियों का बंधा-विच्छेद हो जाने से ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में योग निमित्तक बंधाने वाली एक मात्र सातावेदनीय तथा चौदहवें गुणस्थान में योग

का अभाव होने से किसी भी प्रकृति का बंधा नहीं होता<sup>2</sup>

#### ८. अष्टम अधिकाकार : सत्ता

##### द्व्यअष्टम मूल प्रकृतियों की अपेक्षा सत्ता

मूल कर्म प्रकृतियों की अपेक्षा पहले से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत आठ कर्मों की सत्ता रहती है। बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म क्षीण हो जाने से मोहनीय कर्म को छोड़कर सात कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की सत्ता रहती है। चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में आत्मा सर्वकर्म की सत्ता रहित हो जाती है।<sup>3</sup>

##### द्व्यअष्टम उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा सत्ता

सत्ता योग्य उत्तर प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस हैं। ज्ञानावरणीय की पांच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अठारह, आयु कर्म की चार, नाम कर्म की तिरानवें, गोत्र की दो एवं अंतराय की पांच- इस प्रकार कुल एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां अधिक से अधिक सत्ता में रहती हैं। जब शरीर नामकर्म के समान बंधान नाम कर्म के पांच भेद ग्रहण किए जायें तो एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है और जब बंधान नाम कर्म के पंद्रह भेद ग्रहण किए जायें तो एक सौ अठारह प्रकृतियां सत्ता में रहती हैं।<sup>4</sup> इनमें

1. अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो।  
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे॥  
-कर्मग्रन्थ, भाग 2, गाथा 11
2. चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसंग ति सोलसुच्छेओ।  
तिसु सायबंधा छेओ सजोगि बंधां तुणंतो अ॥  
-वही, गाथा 12
3. षडूशीतिप्रकाशः, पत्रंक 111, गाथा 60
4. द्व्यअष्टम सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः, द्व्यअष्टमग्रन्थ, भाग 1 अष्टम गाथा 81-83  
द्व्यअष्टम सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः, द्व्यअष्टमस्तवत्र, गाथा 9-10  
द्व्यअष्टम कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 102-104

से प्रथम ग्यारह गुणस्थान पर्यंत दूसरे, तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है। यह कथन जीव की योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिए। अर्थात् वर्तमान में कर्म की स्वरूप सत्ता न होने पर भी उस कर्म के भविष्य में बंधाने की योग्यता की संभावना- संभवसत्ता की अपेक्षा से एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियां सत्ता



योग्य मानी गई हैं। जैसे आयुर्कर्म की अपेक्षा से ब)यमान और भुज्यमान कर्म की ही सत्ता है, शेष आयु की सत्ता नहीं, परन्तु संभवसत्ता की अपेक्षा अन्य आयु की सत्ता मानने में कोई बाधा नहीं है।<sup>1</sup>

मिथ्यात्वी जीव में तीर्थकर नामकर्म की सत्ता मानी गई है। इसका कारण यह है कि किसी मनुष्य ने पूर्व में मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बंधान कर लिया हो और तत्पश्चात् वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तीर्थकर नाम कर्म का बंधा करे तो वह जीव मरते समय सम्यक्त्व का वमन कर नरक में जाये,<sup>2</sup> वहां अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व में रहे और उसके पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त करे तो उस जीव के मिथ्यात्व अवस्था में तीर्थकर नामकर्म की सत्ता है किन्तु दूसरे, तीसरे गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म की सत्ता नहीं रहती क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में तीर्थकर नामकर्म का बंधान नहीं होता तथा तीर्थकर नामकर्म का बंधान कर सम्यक्त्व से च्युत होकर भी कोई जीव दूसरे और तीसरे गुणस्थान में नहीं जाता इसलिए दूसरे, तीसरे गुणस्थान में एक सौ सैंतालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है।<sup>3</sup> उपर्युक्त कथन सामान्य की अपेक्षा से किया गया है लेकिन चतुर्थ गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में (विशु) का आधिक्य होने से प्रकारांतर से जो सत्ता रहती है, उसका विवेचन इस प्रकार है- क्षयोपशम समकृती चरमशरीरी चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक 185 की सत्ता रहती है। तीन आयु छोड़कर श्रेणि नहीं करने वाले अचरम शरीरी क्षायिक समकृती जीवों के चौथे से लेकर सातवें

1. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 102-104
2. नरक में जाने वाला जीवन सम्यक्त्व का वमन करेगा ही, यह एकांत नियम नहीं है। जैसे क्षायिक सम्यक् दृष्टि नरक में जाने पर भी सम्यक्त्व का वमन नहीं करता किंतु क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि कदाचित् वमन कर भी सकता है।

विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य है-कर्मप्रकृतिबंधनकरण तत्वावधान, आचार्य नानेश, संपा. देव कुमार जैन, परिशिष्ट पृष्ठ 218-221

3. ढ्ढकऱऱ सटीकाशचत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रंथाः ढ्ढकर्मस्तवऱऱ पत्रं 9

ढ्ढखऱऱ कर्मग्रन्थ, भाग 2, पृष्ठ 104-105

गुणस्थान पर्यंत चार गुणस्थानों में एक सौ इकतालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है क्योंकि देव, नारक और तिर्यच जिन जीवों ने अपने-अपने भव में अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक का क्षय कर दिया उनके एक सौ इकतालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है।<sup>1</sup> अथवा अचरम शरीरी देशविरति आदि के इन सात प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उपश्रम श्रेणि करने वाले जीव के आठवें से

ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत चार गुणस्थानों में अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का विसंयोजन करने से तथा नरकायु, तिर्यचायु का बंधा नहीं करने से एक सौ बियालीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है।<sup>2</sup>

जिन जीवों ने अनंतानुबंधी चतुष्क और दर्शन मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों को क्षय कर क्षायिक समकित प्राप्त कर ली है और जो चरमशरीरी हैं तथा चौथे गुणस्थान से क्षायिक समकिति होकर क्षपक श्रेणि करते हैं, उनके अनंतानुबंधी चतुष्क, दर्शन मोहनीयत्रिक, देवायु, नरकायु, तिर्यचायु इन दस प्रकृतियों को कम करने पर चौथे से नवम गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यंत एक सौ अड़तीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता रहती है।<sup>3</sup>

औपशमिक सम्यक्त्वी, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी के एक सौ अड़तालीस कर्म प्रकृतियों की सत्ता पहले से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त होती है।<sup>4</sup> क्षपक श्रेणि करने वाले जीव के नौवें गुणस्थान के दूसरे भाग में स्थावरद्विक, तिर्यचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, स्त्यान(ि)द्विक, एकेन्द्रिय जातिनाम, विकलत्रिक तथा साधारण नाम इन सोलह प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग में होने से दूसरे भाग में एक सौ बाईस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दूसरे भाग के अंतिम समय में एक सौ बाईस प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानी प्रत्याख्यानी कषाय चतुष्क का क्षय हो जाने से तीसरे भाग में एक सौ चौदह प्रकृतियों की सत्ता रहती है। चौथे भाग के अंतिम समय में स्त्रैवेद का क्षय हो जाने से एक सौ बारह प्रकृतियों की सत्ता पांचवें भाग में होती है। पांचवें भाग के अंतिम समय में हास्यादि षटक का क्षय हो जाने से छठे भाग में एक सौ छः प्रकृतियों की सत्ता रहती है। छठे भाग के अंतिम समय में पुरुषवेद का क्षय हो जाने से सातवें भाग में एक सौ पांच प्रकृतियों की सत्ता रहती

1. ढ्ककऋ सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः ढ्ककर्मस्तवऋ, पत्रक 9-10

ढ्कखऋ कर्मग्रन्थ, भाग 2, पृष्ठ 110

2. कर्मग्रन्थ, भाग 2, गाथा 26

3. कर्मग्रन्थ भाग 2, गाथा 27

4. वही, गाथा 25

है। सातवें भाग के अंतिम समय में संज्वलन क्रोधा का क्षय हो जाने से आठवें भाग में एक सौ चार प्रकृतियों की सत्ता रहती है। आठवें भाग के अंतिम समय में संज्वलन मान का क्षय हो जाने से नौवें भाग में एक सौ तीन प्रकृतियों की सत्ता रहती है।<sup>1</sup> नौवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का क्षय हो जाने से दसवें गुणस्थान में एक सौ दो प्रकृतियों की सत्ता रहती है। सूक्ष्म सम्पराय

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/91

गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से बारहवें गुणस्थान के द्विचरम तक समय में एक सौ एक प्रकृतियों की सत्ता रहती है। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में निद्रा एवं प्रचला इन दो का क्षय हो जाने से निन्यानवें प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पांच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का क्षय हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में तथा चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक में पिच्यासी प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके पश्चात् योग का निरोधा होने से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में योग निमित्त का देवद्विक, विहायोगतिद्विक, गन्धाद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बन्धान और संघातन की पांच-पांच निर्माण नाम, संहनन षट्क, अस्थिर षट्क, संस्थान षट्क, अगुरुलघु चतुष्क, पर्याप्तनाम, सातावेदनीय अथवा असातावेदनीय, प्रत्येक, स्थिर, शुभ औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, सुस्वर एवं नीच गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का क्षय होने से मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, त्रस, बादर, पर्याप्त, यशः कीर्ति, आदेय, शुभग, तीर्थकर नाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, साता एवं असातावेदनीय में से कोई एक, इन तेरह प्रकृतियों की सत्ता अन्तिम समय में रहती है। इन तेरह प्रकृतियों को भी समुच्छिन्नक्रिया\*प्रतिपाती शुक्ल ध्यान में ध्यानस्थ होकर अन्तिम समय में पांच लघु अक्षरों के उच्चारण जितने समय में क्षय करके सर्वथा मुक्त बनकर

1. थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगल साहारं।  
सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतिय कसायंतो।  
तइयाइसु चउदसतेरबार छपण चउतिहिय सय कमसो।  
नपुइत्थिहासछगपुंस तुरिय कोह मय भाय खओ।  
- कर्मग्रन्थ, भाग 2, गाथा 28-29

---

शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं।<sup>1</sup>

## ९. नवम अधिकांश : उदय

द्विअत्र मूल प्रकृतियों की अपेक्षा उदय

पहले से दसवें गुणस्थान पर्यन्त आठों कर्मों का उदय रहता है। ग्यारहवें,

बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने से मोहनीय के अतिरिक्त सात कर्मों का उदय होता है। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों का उदय होता है।<sup>2</sup>

### द्ब्रह्म उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उदय

उदय योग्य कुल एक सौ बाईस प्रकृतियां हैं। यथा-पांच ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, दो वेदनीय, अठारह मोहनीय, चार आयु, सतसठ नाम, दो गोत्र और पांच अन्तराय। इनमें से मिश्र मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में, सम्यक्त्व मोहनीय का उदय चौथे से सातवें गुणस्थान तक में, आहारकद्विक का उदय प्रमत्त गुणस्थान में तथा तीर्थकर नामकर्म का उदय तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में होने से इन पांच प्रकृतियों को कम करने पर प्रथम गुणस्थान में एक सौ सतरह प्रकृतियों का उदय होता है।<sup>3</sup>

पहले गुणस्थान में भी मिथ्यात्व के कारण उदय में आने वाली सूक्ष्मनाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय

1. सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसय दुनिह्रखओ।  
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो॥  
पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइग्घादुगं।  
गसट्ट वन्नरस तणुबंधानसंघायण निमिणं॥  
संघयण अथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।  
सायं वा असायं वा परित्तुवंग सुसर नियं॥  
विसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं।  
सुभगजिणुच्च पणिंदिय तेरस सायासाएगयरछेओ॥  
-कर्मग्रन्थ, भाग 2, गाथा 30-33
2. आसुहुमं संतुदए अठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि।  
चउ चरिमदुगे अठ उ संते उवसंति सत्तुदए॥  
-षड्शीतिप्रकाशः, पत्रक 111, गाथा 70
3. उदओ विवागवेयणमुदीरण आपत्ति इह दुवीससयं।  
सतरसयं मिच्छे मीससम्मआहारजिण\*णुदया॥  
-कर्मग्रन्थ, भाग 2, गाथा 13

इन पांच प्रकृतियों का सास्वादन गुणस्थान में उदय नहीं होता है तथा औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होकर सास्वादन गुणस्थान में स्थित जीव नरक में भी नहीं जाता, मिथ्यात्व को प्राप्त करने पर ही वह नरक में जाता है। अतः नरकानुपूर्वी का भी उदय सास्वादन गुणस्थान में जीव को नहीं होने से एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में होता है।<sup>1</sup> सास्वादन गुणस्थान में स्थित जीव

नरक में नहीं जाता, यह कार्मग्रन्थिक मान्यता है किन्तु सै)ांतिक मान्यतानुसार औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत सास्वादन गुणस्थान में स्थित जीव नरक में जा सकता है। अपर्याप्त अवस्था में नरक में सास्वादन सम्यक्त्व “जीवघड़ा” थोकड़े में भी बताई है। साथ ही सास्वादन गुणस्थान में यहां स्थावरादि नाम कर्म का उदय माना है। यह भी कार्मग्रन्थिक धारणा है क्योंकि भगवतीसूत्र में एकेन्द्रिय को अज्ञानी माना है, ज्ञानी नहीं। अतः उनमें प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, सास्वादन गुणस्थान नहीं।<sup>2</sup> इस प्रकार अन्यत्र भी जहां-जहां कार्मग्रन्थिक, सै)ांतिक मान्यता में मत भिन्नता है वहां-वहां सुज्ञ पाठकों को स्वयमेव जानना चाहिए। दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में अनन्तानुबंधी चतुष्क, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रैन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय जाति ये नौ प्रकृतियां विच्छिन्न हो जाती हैं क्योंकि अनन्तानुबंधी चतुष्क का उदय पहले, दूसरे गुणस्थान तक तथा स्थावरादि नामकर्म का उदय भी प्रथम दो गुणस्थान पर्यन्त होता है। अतः मिश्रदृष्टि में इन नौ प्रकृतियों को कम करने पर तथा इस गुणस्थान में मृत्यु नहीं होने से मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी को कम करने तथा मिश्र मोहनीय को मिलाने पर सौ प्रकृतियों का उदय होता है।<sup>3</sup>

चौथे गुणस्थान में मिश्र मोहनीय को कम करने पर तथा सम्यक्त्व मोहनीय, नरकानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी और देवानुपूर्वी को मिलाने पर एक सौ चार प्रकृतियों का उदय होता है।<sup>4</sup> चौथे गुणस्थान में उदय योग्य

1. सुहुमतिगायव-मिच्छं मिच्छत्तं सासणे इगारसयं।  
निरयाणुपुव्विणुदया अणथावरइगविगलअंतो।।  
-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 14
2. भगवतीसूत्रम्, 8/2/318
3. मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।  
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बियकसाया।।  
-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 15
4. वही, गाथा 15

एक सौ चार प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क, मनुष्या- नुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, वैक्रिय अष्टक, दुर्भगनाम, अनादेय नाम, अयश कीर्तिमान इन सतरह प्रकृतियों का चरम समय में अन्त हो जाता है। अतः इनको कम करने पर सितयासी प्रकृतियों का उदय पांचवें गुणस्थान में होता है। इनमें से अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय चतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान में होने से, जन्म के समय तिर्यय मनुष्यों के भी पंचम गुणस्थान नहीं होने से तिर्यचानुपूर्वी,

मनुष्यानुपूर्वी को कम करने से देवनारकों के पंचम गुणस्थान नहीं होने से वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी को कम करने से तथा शुभ परिणामों के कारण दुर्भग अनादेय, अयशकीर्ति का उदय नहीं होने से पांचवें गुणस्थान में सितयासी प्रकृतियों का उदय रहता है।

पांचवें गुणस्थान में उदय योग्य सितयासी प्रकृतियों में से तिर्यचगति, तिर्यचायु, नीचनोत्र, उद्योत नामकर्म, अप्रत्याख्यानी क्रोधा, मान, माया, लोभ इन आठ प्रकृतियों का पंचम गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय विच्छेद होने से तथा आहारक शरीर एवं आहारक अंगोपांग का छठे गुणस्थान में उदय होने से इक्यासी प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में होता है।<sup>1</sup> छठे गुणस्थान में उदय योग्य इक्यासी प्रकृतियों में से प्रमाद के उदय से होने वाली निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानी तथा आहारकद्विक इन पांच प्रकृतियों को कम करने पर सातवें गुणस्थान में उदय योग्य छियत्तर प्रकृतियां रहती है।<sup>2</sup>

श्रेणि आरोहण करने वाला प्रथम तीन संहनन धारक ही होने से सातवें गुणस्थान के अन्त में अन्तिम तीन संहनन का उदय विच्छेद होने से आठवें गुणस्थान में बहत्तर प्रकृतियों का उदय होता है।<sup>3</sup>

1. मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।

चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय कसाया॥

मणुतिरिणुपुव्विं विउव\*ट्टु दुहग अणाइज्जदुगसतरछेओ।

सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया॥

अट्टछेओ इगसी पभत्ति आहार जुगल-पक्खेवा।

थीणतिगाहारगदुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते॥

- कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 15-17

2. वही, गाथा 18

3. पूर्वज्ञः शु(ि)मान, युक्ता ह्याद्यौः संहननैस्त्रिभिः।

संधयायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वां श्रेणिं शमकः श्रयेत्। -गुणस्थान क्रमारोह, श्लोक 40

आठवें गुणस्थान की उदय योग्य बहत्तर प्रकृतियों में से परिणामों की (विशु)ता के कारण हास्यादि षट्क का आठवें गुणस्थान के चरम समय में उदय विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान में छियासठ प्रकृतियों का बंधा होता है। नौवें गुणस्थान में परिणामों की (विशु) के कारण स्त्रेवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोधा, मान, माया, इन छः प्रकृतियों का उदय रुक जाने से दसवें गुणस्थान में साठ प्रकृतियों का उदय होता है। दसवें गुणस्थान के चरम समय में

लोभ कषाय का उदय रुक जाने से ग्यारहवें गुणस्थान में उनसाठ प्रकृतियों का उदय होता है। दसवें गुणस्थान के चरम समय में लोभ कषाय का उदय रुक जाने से ग्यारहवें गुणस्थान में उनसाठ प्रकृतियों का उदय होता है। ग्यारहवें गुणस्थान के अंत में षभनाराचसंहनन और नाराचसंहनन का उदय विच्छेद हो जाता है।<sup>1</sup> अतः इन दो प्रकृतियों को कम करने से सत्तावन प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक होता है। निद्रा एवं प्रचला का बारहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में बंधा विच्छेद होने से चरम समय में पचपन प्रकृतियों का उदय होता है।

बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पांच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से तथा तेरहवें गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म का उदय होने से उसको मिलाने पर बियालीस अन्यथा इकतालीस प्रकृतियों का उदय होता है।

तेरहवें गुणस्थान के अन्त में साता-असाता वेदनीय में से किसी एक का तथा उनतीस प्रकृतियों का क्षय होता है। यथा-औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, अस्थिर, अशुभ, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, स्थिर, शुभ, समचतुरस्र संस्थान, न्यूग्रोधा परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक, अगुरुलघु उपघात, पराघात, उच्छवास, वर्ण, गन्धा, रस, स्पर्श, निर्माण, तैजस शरीर, कर्मण शरीर, वज्र; षभनाराचसंहनन, दुःस्वर, सुस्वर इन तीस प्रकृतियों का उदय विच्छेद तेरहवें गुणस्थान में हो जाने से चौदहवें गुणस्थान में बारह प्रकृतियों का उदय रहता है। यथा-सु भाग, आदेय,

1. समत्तिसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि सपुव्वे।

हासाइ छक्कअंतो छसट्ठ अनियट्ठ वेयतिगं।

संजलणतिगं छच्छेओ सठि सुहुममि तुरियलोभंतो।

उवसंतगुणे गुणसठि रिसहनारायदुगअंतो।।

-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 18-19

यशःकीर्ति, वेदनीय की दो में से एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, मनुष्य गति, तीर्थकर नाम और उच्चगोत्र, इनका उदय विच्छेद चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से जीव सि)-बु) मुक्त बन जाता है।<sup>1</sup>

१०. दसम अधिकाकार : उदीरणा

द्धअऋ मूल प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणा

उदीरणा सदैव उदय में आये हुए कर्मों की होती है, अनुदयमान की नहीं। जिस समय उदय प्राप्त कर्मों की स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है

उस समय कर्मों की उदीरणा रुक जाती है। पहले से छोटे गुणस्थान पर्यन्त द्वितीसरे गुणस्थान को छोड़कर ऋ सात या आठ कर्मों की उदीरणा होती है। आयुकर्म की उदीरणा होने पर आठ कर्मों की उदीरणा होती है। वर्तमान भव की आवलिका प्रमाण आयु शेष रहते आयु कर्म की उदीरणा जब रुक जाती है तब सात कर्मों की उदीरणा होती है।

तीसरे गुणस्थान में आठों कर्मों की उदीरणा होती है। इस गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होने से, वर्तमान आयु आवलिका प्रमाण शेष रहने पर यह गुणस्थान नहीं हो सकता। अतः इसमें आयुकर्म की भी उदीरणा संभव होने से आठों कर्मों की उदीरणा होती है।

सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थान में वेदनीय और आयु को छोड़कर छः कर्मों की उदीरणा होती है क्योंकि इनमें अत्यन्त विशु) अध्यवसाय होने से उदीरणा योग्य अध्यवसाय नहीं होने के कारण आयु और वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं होती। दसवें गुणस्थान में छः अथवा पांच कर्मों की उदीरणा होती है। वेदनीय और आयुकर्म की उदीरणा अति विशु) अध्यवसाय होने से नहीं होती तब छः कर्मों की उदीरणा होती है और जब दसवें गुणस्थान की

1. सगवन्नखीण दुचरिम निद्दुगंतो य चरिम पणपन्ना।  
नाणंतरायदंसण चउ छेओ सजोगि बायाला।।  
तित्थुदया उरला \*धिरखगंडुग परित्तिग छः संठाणा।  
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेय कम्माइसंघयणं।।  
दूसरसूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ।  
बारस अजोगि सुभगाइज्जसन्नयरवेयणियं।।  
तस तिग पणिदि मनुयाउगइ जिणुच्चति चरमसमयंता।।  
-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 20-23

अन्तिम आवलिका में मोहनीय कर्म की उदीरणा रुक जाती है तब पांच कर्मों की उदीरणा होती है।<sup>1</sup>

---

ग्यारहवें गुणस्थान में अतिविशु) अध्यवसाय होने से वेदनीय एवं आयुकर्म की उदीरणा नहीं होती तथा मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से उसकी उदीरणा भी नहीं होती। अतः इन तीन कर्मों को छोड़कर शेष पांच कर्मों की उदीरणा होती है।

बारहवें गुणस्थान में पांच अथवा दो कर्मों की उदीरणा होती है। जब ग्यारहवें गुणस्थान के समान ही वेदनीय, आयु एवं मोहनीय को छोड़कर उदीरणा



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/97

होती है तब पांच कर्मों की उदीरणा होती है किन्तु जब बारहवें गुणस्थान की अन्तिम आवलिका में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है तब इनकी उदीरणा रुक जाने से नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा होती है। सयोगी केवल में इन्हीं दो कर्मों की उदीरणा होती है। चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव होने से किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती।<sup>2</sup>

### द्बत्र उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणा

यह सब कर्मग्रन्थ की दृष्टि से है। सि)न्त में द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में 7-8-6 कर्म की उदीरणा बताई है। उदय के समान ही उदीरणा कहनी चाहिये। किन्तु सातवें से तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थानों में साता वेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर उदीरणा कहनी चाहिए क्योंकि छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अधयवसाय नहीं होते जिनसे इन कर्मों की उदीरणा की जा सके। चौदहवें गुणस्थान में योगाभाव होने से उदीरणा नहीं होती।<sup>3</sup>

1. उइरंति पमत्तंता सग अठ मीसठ वेयआउ विणा।  
छग अपमत्ताइ तओ छ पंच सुहुमो पणुवसंतो॥  
-षड्शीतिप्रकाशः पत्रक 111, गाथा 61
2. 'पण, दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगी'  
-वही, पत्रक 112
3. उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु॥  
एसापयडि-तिगूणा वेर्यणिग्या\*हारजुगल थीणातिगं॥  
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीगो भगवं॥  
-कर्मग्रंथ, भाग 2, गाथा 23-24

### ११. ~~एकदश अधिकाकार~~ : निर्जरा

पहले से दसवें गुणस्थान पर्यन्त आठों कर्मों की निर्जरा होती है क्योंकि आठ कर्मों का उदय इन गुणस्थानों में रहता है। ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की निर्जरा होती है क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में मोहनीय कर्म क्रमशः उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की निर्जरा होती है।

### १२. द्वादश अधिकाकार : भाव

चौथे, पांचवें, छठे और सातवें इन चार गुणस्थानों में औदायिक,

पारिणामिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव होते हैं। औदायिक भाव मनुष्य गति आदि रूप में, पारिणामिक भाव जीवादि रूप में और क्षायोपशमिक भाव भावेन्द्रिय और सम्यक्त्वादि रूप में पाया जाता है किन्तु जब क्षायिक या औपशमिक सम्यक्त्व इस गुणस्थान में हो तब एक सम्यक्त्व तथा तीन भाव मिलाने पर चार भाव इन गुणस्थानों में पाये जाते हैं।<sup>1</sup>

नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान में चार या पांच भाव पाये जाते हैं। इनमें या तो औदायिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व व चारिः ये चार भाव अथवा औदायिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारिः ये पांच भाव पाये जाते हैं।<sup>2</sup> इसका कारण यह है कि नौवें, दसवें गुणस्थानवर्ती जीव उपशमक या क्षमक कहे जाते हैं। उनमें से उपशम श्रेणि आरोहण करते समय दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय करने वाले जीव के नवें, दसवें गुणस्थान में उक्त पांचों भाव पाये जाते हैं क्योंकि उसमें औपशमिक चारिः संभव है। इसके अतिरिक्त नवें, दसवें गुणस्थानवर्ती जीवों के चार भाव पाये जाते हैं। इसी प्रकार ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के भी उपर्युक्त चार या पांच भाव पाये जाते हैं।

आठवें और बारहवें गुणस्थान में चार भाव पाये जाते हैं। बारहवें गुणस्थान में औदायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारिः रूप चार भाव तथा आठवें गुणस्थान में औदायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा क्षायिक सम्यक्त्वी के क्षायिक और उपशम समकित्ती के औपशमिक ये चार भाव पाये जाते हैं।

1. 'सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते।'

-षड्शीति प्रकाशः, पत्रक 118-119, गाथा 70

2. षड्शीतिप्रकाशः, पत्रक 118-120

तात्पर्य यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमसमकित्ती, उपशमश्रेणी के 4 भाव क्षायिक के बिना, नौवें, दसवें गुणस्थान के क्षायिक समकित्ती उपशम श्रेणी के 5 भाव तथा क्षायिक समकित्ती क्षमक श्रेणी के 4 भाव उपशम के बिना पाये जाते हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में औदायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक रूप तीन भाव पाये जाते हैं। उनमें औदायिक गतिरूप, क्षायोपशमिक इन्द्रियादि रूप और पारिणामिक जीवत्वादि रूप हैं। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में औदायिक, क्षायिक और पारिणामिक रूप तीन भाव होते हैं। औदायिक मनुष्य गतिरूप, क्षायिक केवलज्ञानादि रूप और पारिणामिक जीवत्व रूप होता है।<sup>1</sup>

केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त वीर्य से ये सब क्षायिक भाव रूप हैं। परिपूर्ण क्षायिक भाव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के क्षय होने से तेरहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। वही भाव चौदहवें गुणस्थान में तथा सि)ों में रहता है। वह क्षायिक भाव ज्ञानावरणीय आदि अपाय का अपगम होने से सादि अनन्त रूप है।

### १३. त्रयोदश अधिकाकार : उपयोग

कर्मग्रंथानुसार प्रथम दो गुणस्थानों में मति, श्रुत एवं विभंग ये तीन प्रकार के अज्ञान तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन रूप दो दर्शन होते हैं।<sup>2</sup> सि)ान्तानुसार दूसरे गुणस्थान में अज्ञान का अभाव होने से तीन ज्ञान, तीन दर्शन रूप छः उपयोग माने गये हैं।<sup>3</sup> तीसरे गुणस्थान में तीन अज्ञान एवं प्रथम तीन दर्शन माने गये हैं। इस गुणस्थान में ज्ञान नहीं होने से पांच ज्ञान एवं एक केवल दर्शन ये छः उपयोग नहीं होते। चौथे, पांचवें गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होने से मिथ्यात्व सहचारी तीन अज्ञान एवं अप्रमत्त सर्वविरतिचारि के अभाव में मनःपर्यवज्ञान एवं घातीकर्मों का अभाव नहीं होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन ये छहों उपयोग नहीं होते। इनके अतिरिक्त शेष छहों उपयोग होते हैं। छठे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त प्रथम चार ज्ञान एवं क्रमिक तीन दर्शन ये सात उपयोग होते हैं। इनमें मिथ्यात्व का अभाव होने से तीन

1. चउखीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणठाणगेगजिए

-षडशीतिप्रकाशः, पत्रक 118-120, गाथा 70

2. 'तिअनाण दुदंसाइमदुगे'

-कर्मग्रंथ भाग 4, गाथा 48

3. पन्नवणासुत्त के थोकड़े ढ्ढप्रथम भागत्त, सम्पा. श्री रोशनलाल जैन, प्रका. श्री अ. भै. सेठिया जैन ग्रंथालय, बीकानेर, दि.स. वि.स. 2025, पृष्ठ 36, ढ्ढतृतीय पदत्त अज्ञान एवं घातीकर्म का सद्भाव होने से केवलद्विक रूप उपयोग नहीं होते। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान, केवलदर्शन रूप दो उपयोग होते हैं, शेष छद्मस्थ अवस्थाभावी इन्हीं दो में विलीन हो जाने से उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती।<sup>1</sup>

### १४. चतुर्दश अधिकाकार : जीवयोनि

पहले गुणस्थान में चौरासी लाख जीवयोनि, दूसरे गुणस्थान में बावन लाख एकेन्द्रिय को छोड़कर बत्तीस लाख जीवयोनि, तीसरे, चौथे गुणस्थान में छः लाख विकलेन्द्रिय को छोड़कर छब्बीस लाख जीवयोनि, पांचवें गुणस्थान में

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/100

चौदह लाख मनुष्य और चार लाख तिर्यच, इस प्रकार अठारह लाख जीवयोनि तथा छठे से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त चौदह लाख जीवयोनी पायी जा सकती है।

#### १५. पंचदश अधिकाकार : आत्मा

आत्मा आठ हैं- ढ्ढ1ः द्रव्य आत्मा, ढ्ढ2ः कषाय आत्मा, ढ्ढ3ः योग आत्मा, ढ्ढ4ः उपयोग आत्मा, ढ्ढ5ः ज्ञान आत्मा, ढ्ढ6ः दर्शन आत्मा, ढ्ढ7ः चारिः आत्मा और ढ्ढ8ः वीर्य आत्मा।

पहले तथा तीसरे गुणस्थान में ज्ञान और चारिः आत्मा के अतिरिक्त छः आत्माएं पायी जाती हैं। दूसरे, चौथे और पांचवें गुणस्थान में चारिः आत्मा के अतिरिक्त सात आत्माएं पायी जाती हैं। छठे से दसवें गुणस्थान में कषाय आत्मा के अतिरिक्त शेष सात आत्माएं पायी जाती हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग तथा कषाय के सिवाय छह आत्माएं तथा सि) भगवान में ज्ञान, दर्शन, द्रव्य और उपयोग ये चार आत्माएं पायी जाती हैं।<sup>2</sup>

#### १६. षोडश अधिकाकार : दण्डक

पहले गुणस्थान में चौबीस दण्डक पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान में पांच स्थावर को छोड़कर उन्नीस दण्डक पाये जाते हैं। तीसरे, चौथे गुणस्थान में तीन विकलेन्द्रिय को छोड़कर सोलह दण्डक पाये जाते हैं। पांचवें गुणस्थान में संज्ञी पंचेन्द्रिय और मनुष्य ये दो दण्डक पाये जाते हैं। छठे से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त एक मनुष्य दण्डक ही पाया जाता है।

1. कर्म ग्रन्थ, भाग 4, गाथा 48
2. भगवतीसूत्र, भाग 2, सूत्र 12/10/467-468

#### १७. सप्तदश अधिकाकार : भेद

पहले गुणस्थान में जीव के चौदह भेद पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान में जीव के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय का अपर्याप्त तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्त एवं अपर्याप्त ये छः भेद पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में जीव का एक भेद संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्त, चौथे गुणस्थान में जीव के दो भेद संज्ञी पंचेन्द्रिय का अपर्याप्त एवं पर्याप्त तथा पांचवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त जीव का एक भेद संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्त ही पाया जाता है। यहां ज्ञातव्य है कि कर्मग्रंथकार ने बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त में द्वितीय गुणस्थान माना है जबकि सि)न्त ग्रंथों में बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त को नियमतः अज्ञानी माना है।<sup>1</sup>

### १८. अष्टादश अधिकाकार : सम्यक्त्व

पहले से तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व अपनी-अपनी होती है। चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक तीनों समकित पायी जाती हैं। आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में क्षायिक तथा औपशमिक, ग्यारहवें गुणस्थान में क्षायिक औपशमिक तथा बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यक् दृष्टि पायी जाती है। तेरहवें गुणस्थान में घातिकर्मों के नष्ट होने पर जो क्षायिक सम्यक्दृष्टि पायी जाती है, वह सादि अनन्त है। वही सम्यक्दृष्टि चौदहवें गुणस्थान में और सि)ों में रहती है।<sup>2</sup>

### १९. एकोनविंशति अधिकाकार : परीषह

मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों को क्षय करने के लिए जो सहन करने योग्य हैं, वे परीषह हैं।<sup>3</sup> परीषह बाईस हैं, यथा- ढ्ढ1ः ऋधुधा, ढ्ढ2ः ऋतृष्णा, ढ्ढ3ः ऋशीत, ढ्ढ4ः ऋउष्ण, ढ्ढ5ः ऋदंशमक, ढ्ढ6ः ऋनग्नत्व, ढ्ढ7ः ऋअरति, ढ्ढ8ः ऋस्त्रे, ढ्ढ9ः ऋचर्या, ढ्ढ10ः ऋनिषद्या, ढ्ढ11ः ऋश"या, ढ्ढ12ः ऋआक्रोश, ढ्ढ13ः ऋवधा, ढ्ढ14ः ऋयाचना, ढ्ढ15ः ऋअलाभ, ढ्ढ16ः ऋरोग, ढ्ढ17ः ऋतृणस्पर्श, ढ्ढ18ः ऋमैल, ढ्ढ19ः ऋसत्कार-पुरस्कार, ढ्ढ20ः ऋप्रज्ञा, ढ्ढ21ः ऋअज्ञान

1. ढ्ढकः ऋकर्मग्रंथ, भाग 4, व्याख्या, सुखलाल सिंघवी, गाथा 45-49

ढ्ढखः ऋपुढ्विकाइया जाव वणस्सइकाइया नो नाणी, अण्णाणी नियमा  
दुअण्णाणी तं जहा-मति अण्णाणी य सुयअण्णाणी च।

-भगवतीसूत्र, द्वितीय भाग, सूत्र 8/2/319

2. षड्शीति प्रकाशः पत्रक 51-52

3. ढ्ढकः 'मार्गा\*च्यवननिर्जरार्थ परिसोदव्याः परीषहा'

-तत्त्वार्थसूत्र, 9/8 ढ्ढखः ऋभगवतीसूत्र 8/8/343, पत्रक 389

और ढ्ढ22ः ऋअदर्शन।<sup>1</sup> चार कर्मों के उदय से बाईस परीषह होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह होते हैं।<sup>2</sup> वेदनीय कर्म के उदय से ग्यारह परीषह होते हैं।<sup>3</sup> मोहनीय कर्म के उदय से आठ परीषह होते हैं। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से एक अदर्शन परीषह होता है।<sup>4</sup> चारिः मोहनीय कर्म के उदय से सात परीषह होते हैं।<sup>5</sup> अन्तराय कर्म के उदय से एक अलाभ परीषह होता है।

---

पहले से नौवें गुणस्थान पर्यन्त 22 परीषह पाये जाते हैं परन्तु एक जीव एक समय में बीस परीषहों का वेदन करता है, ऐसी भगवतीसूत्रकार की मान्यता है क्योंकि इनके मतानुसार जिस समय जीव शीत परीषह का वेदन करता है उस समय उष्ण परीषह का वेदन नहीं करता और जिस समय उष्ण

परीषह का वेदन करता है उस समय शीत परीषह का वेदन नहीं करता। जिस समय चर्यापरीषह का वेदन करता है, उस समय निषध्या परीषह का वेदन नहीं करता जिस समय निषध्या परीषह का वेदन करता है उस समय चर्या परीषह का वेदन नहीं करता।<sup>6</sup> इस संबंध में तत्त्वार्थकार की मान्यता भिन्न है। उनके अनुसार पहले से नौवे गुणस्थान पर्यन्त बाईस परीषह होते हैं। जिनमें एक साथ एक आत्मा अधिकाक से अधिक उन्नीस परीषहों का वेदन कर सकती है, क्योंकि शीत और उष्ण में से एक समय में एक परीषह का ही वेदन होता है तथा चर्या, निषध्या और श"या इन तीन में से किसी एक का ही वेदन एक समय में होता है। इसलिए पांच में से दो संभव और तीन असंभव मानकर एक साथ अधिकाधिक

1. ढ्ककऱऱ 'शुत्पिपासाशीतोष्णदंशमकशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषध्याश"याक्रोश वधाज्ञयाचना लाभरोगतृणस्पर्शमल सत्कार पुरस्कार प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।'  
-वही, 9/10 ढ्खऱऱऱ भगवतीसूत्र 8/8/343
2. ढ्ककऱऱ 'ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने( वही, 9/13 ढ्खऱऱऱ वही, पत्रंक 388
3. ढ्ककऱऱ वेदनीये शेषाः, वही 9/16 ढ्खऱऱऱ वही, पत्रंक 388
4. 'दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ'  
ढ्ककऱऱ तत्त्वार्थसूऱ 9/14  
ढ्खऱऱऱ भगवतीसूत्र 8/8/343
5. "चारिऱ्मोहे नाग्न्यारतिस्त्री निषध्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः  
ढ्ककऱऱ तत्त्वार्थसूऱ 9/15  
ढ्खऱऱऱ भगवतीसूत्र 8/8/343
6. भगवतीसूत्र, 8/8/343, पत्रंक 388

उन्नीस परीषहों का वेदन होता है।<sup>1</sup>

दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के आठ परीषह को छोड़कर चौदह परीषह पाये जा सकते हैं।<sup>2</sup> उनमें अधिक से अधिक एक साथ एक जीव बारह परीषह वेदन कर सकता है। जीव शीत वेदन करता है तो उष्ण नहीं, उष्ण वेदन करता है तो शीत नहीं। श"या वेदन करता है तो चर्या नहीं। चर्या वेदन करता है तो श"या नहीं।<sup>3</sup>

तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय कर्म से उत्पन्न होने वाले ग्यारह परीषह हो सकते हैं।<sup>4</sup> जीव उनमें से नौ का वेदन करता है, दो का नहीं। शीत और उष्ण में से किसी एक का तथा चर्या और श"या में से किसी एक का वेदन करता है।<sup>5</sup>

## २०. विंशति अधिकाकार : चारित्र

पहले से तीसरे गुणस्थान में सामायिक आदि पांचों चारित्र का सद्भाव नहीं होता। चौथे गुणस्थान में भी यद्यपि इन पांचों चारित्रों में से एक भी चारित्र नहीं पाया जाता तथापि इस गुणस्थानवर्ती जीव की चारित्र के प्रति श्र) रहती है। वह चारित्र की उपादेयता को समझता है तथा ज्ञानाचार आदि आठ आचारों का वह पालन करता है। इस अपेक्षा से उसमें चारित्र है किन्तु सामायिक आदि रूप नहीं। छठे, सातवें गुणस्थान में सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहार विशु) ये तीन चारित्र होते हैं। आठवें, नौवें गुणस्थान में सामायिक और छेदोपस्थापनीय ये दो चारित्र होते हैं। दसवें गुणस्थान में एक सूक्ष्म सम्पराय चारित्र होता है। ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त एक यथाख्यातचारित्र होता है।

## २१. एकविंशति अधिकाकार : ध्यान

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में प्रथम दो ध्यान आर्त एवं रौद्र पाये

1. एकादयोभाज्या युगपदैकोनविंशते - वही 9/17
2. सूक्ष्मसंपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश वही- 9/10
3. वही, 9/10
4. "एकादशजिने"  
-तत्त्वार्थसूत्र, 9/11 ढ्ढ2ऋ भगवतीसूत्र 8/8/343, पत्रंक 389
5. षड्शीति प्रकाशः, पत्रंक 50

जाते हैं।<sup>1</sup> चौथे, पांचवें गुणस्थान में आर्त, रौद्र एवं धर्मध्यान पाया जाता है।<sup>2</sup> पं. सुखलाल जी संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र की टीका में चौथे, पांचवें गुणस्थान में आर्त एवं रौद्र ध्यान माना है तथा छठे गुणस्थान में एक आर्तध्यान ही माना है।<sup>3</sup> किन्तु पं. सुखलाल जी का यह कथन सै)ान्तिक दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सै)ान्तिक दृष्टि से चौथे, पांचवें एवं छठे गुणस्थान में धर्मध्यान भी होता है। स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं-<sup>4</sup> ढ्ढ1ऋ आज्ञारुचि, ढ्ढ2ऋ निसर्ग रुचि, ढ्ढ3ऋ सूत्ररुचि और ढ्ढ4ऋ अवगाढ रुचि। इनकी व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं- वीतराग भाषित आगमों के व्याख्यान, स्वरूप, निर्युक्ति आदि को आज्ञा कहते हैं। उनमें रुचि रखना या उनका अधययन करने से धर्म में रुचि उत्पन्न होना आज्ञारुचि है। स्वभाव से ही वीतराग भाषित धर्म में रुचि होना निसर्गरुचि है। वीतरागभाषित शास्त्रों का स्वाध्याय करने से धर्म में रुचि होना सूत्ररुचि है तथा द्वादशांग में प्रवेश में रुचि होना अथवा निकटवर्ती साधु के उपदेश से धर्म में रुचि होना अवगाढ रुचि है।

आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार आगम के उपदेश से अथवा स्वभाव से जिनभाषित धर्म में श्र)। रखना धार्मध्याननिष्ठ पुरुष का लक्षण है।<sup>5</sup> प्रस्तुत

1. 'तद्विरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम।'  
हिंसा\*नृतस्येयविषय संरक्षणेभ्योः रौद्रमविरतदेशविरतयोः'  
-तत्त्वार्थसूत्र, 9/35-36
2. द्रष्टव्य है- स)ममण्डनम् 'शुक्ललेश्या और धार्मध्यान' पृष्ठ 72-74
3. तत्त्वार्थसूत्र, हिन्दी विवेचन, पृष्ठ 327-330
4. 'धाम्मस्स ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पणत्ता तं जहा- आणारूइ, णिसग्गरूइ, सुत्तरूइ, ओगाढरूइ। -स्थानांगसूत्रम्, 4/1/247
5. 'आणारूइ त्ति आज्ञा सूत्र्याख्यानं निर्युक्त्यादि तत्र तथा वा रुचिः श्र)।नम् आज्ञारूचिः एवमन्यत्रपि, नवरं निसर्गः स्वभावो\*नुपदेशस्तेन तथा सूत्रम् आगमः तत्र तस्माद्वा तथा अवगाहनमवगाढम् द्वादशांगावगाहो विस्तराधिगमः इति संभाव्यते तेन रुचि अथवा ओगाढत्ति साधु प्रत्यासन्नी भूतस्तस्य साधुपदेशाद्गुचिः उक्तंच-'  
आगम उवएसेणं निसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं।  
भावाणं सद्दहणं, धाम्मज्ञाणस्स तं लिंगं।।  
तत्त्वार्थश्र)।नरूपं धर्मस्य लिंगमिति हृदयम्।'  
-स्थानांगसूत्रम् 4/1/247

विवेचन में तत्त्वार्थ श्र)।नरूप सम्यक्त्व को धार्मध्यान का लक्षण कहा है। अतः चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में धार्मध्यान है, यह स्वतः ही घटित हो जाता है। चौथे गुणस्थान में भी धार्मध्यान मानने का कारण यह है कि इस गुणस्थान में भी जीव के विचार ऊर्ध्वारोही आत्मविकास की दिशा में अभिमुख बन जाते हैं, नलतः वह आत्मविकास हेतु वीतराग भाषित सि)।न्तों पर परिपूर्ण श्र)। रखता है और उसकी रुचि प्रगाढ बनती हुई उसे धार्मध्यान में प्रवेश करा देती है तथा वह आज्ञा विचय, अपाय विचय, संस्थान विचय, लोक विचय आदि पर भी चिन्तन करता है। इस प्रकार जब सम्यक्दृष्टि में भी धार्मध्यान संभव है तब देशव्रती और साधु में धार्मध्यान कैसे संभव नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही संभव है।

सम्यक्दृष्टि और श्रावक में धार्मध्यान के अतिरिक्त आर्त्त और रौद्रध्यान भी संभव है, क्योंकि इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगादि के कारण सम्यक्दृष्टि, श्रावक एवं प्रमत्त साधु में आर्त्तध्यान कदाचित पाया जा सकता है। सम्यक्दृष्टि एवं श्रावक में रौद्रध्यान भी संभव है किन्तु श्रावक भी सहसा रौद्रध्यान का प्रयोक्ता



नहीं बनता है लेकिन जब कोई आक्रान्ता उस पर आक्रमण करता है तो वह पहले साम, दाम और भेद की नीति का प्रयोग करता है तदुपरान्त भी आक्रान्ता नहीं माने तो वह दण्डनीति का प्रयोग करता है। दण्डनीति का प्रयोग करते-करते उसमें रौद्रध्यान भी हो सकता है।

छठे गुणस्थान में रौद्रध्यान संभव नहीं है। स्थानांगसूत्र की टीका में रौद्रध्यान का लक्षण बतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि हिंसादि अतिक्रूर कर्मों का आचरण करने का जो दृढ़ निश्चय है, वह रौद्रध्यान कहलाता है।<sup>1</sup> रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है- ॐ१ऋ हिंसानुबंधी, ॐ२ऋ मृषानुबंधी, ॐ३ऋ स्तेनानुबंधी और ॐ४ऋ संरक्षणानुबंधी। उक्त चारों प्रकार के रौद्रध्यान अतिक्रूर कर्मों में संलग्न व्यक्ति के होते हैं साधु के नहीं, क्योंकि साधु क्रूर कर्मों का आचरण करने वाला नहीं होता।<sup>2</sup>

धार्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। कुछ श्वेताम्बराचार्यों की मान्यता है कि सातवें गुणस्थान पर्यन्त धार्मध्यान और आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त शुक्लध्यान

1. “ध्यानं दृढो\*धयवसायः हिंसाद्यति क्रौ”र्यातनुगतसै\*म”

—स्थानांगसूत्रम्, 4/1/247

2. स)र्ममण्डनम्, पृष्ठ 325-326

का प्रथम भेद पृथक्त्व सवितर्क सविचार पाया जाता है।<sup>1</sup> तथा बारहवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का द्वितीय भेद एकत्व वितर्क अविचार पाया जाता है।<sup>2</sup> कुछ दिगम्बराचार्यों की मान्यता है कि सातवें गुणस्थान पर्यन्त धार्मध्यान ही होता है उससे आगे के गुणस्थानों में शुक्ल ध्यान ही होता है।<sup>3</sup> कुछ श्वेताम्बराचार्यों की मान्यता है कि सातवें से दसवें, बारहवें गुणस्थान में धार्मध्यान होता है लेकिन पूर्वधारों के द्रुतथा अपवाद रूप में मरूदेवी माता, भाषतुषादि केऋ ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद पाये जाते हैं।<sup>4</sup> इनके मतानुसार आठवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त शुक्लध्यान संभव नहीं है। यह मत कुछ उचित प्रतीत होता है क्योंकि आठवें गुणस्थान में पहुंचने के पश्चात् जीव स्थितिघात, रसघातादि पांचों प्रक्रियाएं करता है और ये प्रक्रियाएं उपयोग से ही बनती हैं। अतः स्थितिघातादि करने वाला साधाक उन्हीं से संबंधित विषयों को सम्मुख रखकर जब मोहनीय आदि कर्मों का उपशमन या क्षपण करता है तब शुक्लध्यान के इस प्रथम भेद में पृथक्त्व वितर्क सविचार घटित नहीं होता क्योंकि शुक्लध्यान के इस प्रथम भेद में विविधा नयों द्वारा पदार्थों की

पर्यायों का भिन्न-भिन्न रूप में चिन्तन होता है।<sup>5</sup> श्रेणि आरोहक जीव के यह चिन्तन कम संभावित है। इस कथन को एकदेशीय उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे- प्रतिपक्षी सैन्य समूह को हराने के लिए सेनापति व्यूह की रचना करता है। व्यूह रचना में पहाड़ जैसे बाधाक बड़े-बड़े पत्थर आ जाये तो वह उनको तोड़-मोड़कर नीचे गिराता है फिर उसे यह दिखाई दे कि इन पत्थरों के बीच शत्रुओं ने विषतत्त्व रख छोड़े हैं तो वह उन पत्थरों को शस्त्रों द्वारा हटाता है तथा पत्थरों एवं विषतत्त्वों

1. पूर्वज्ञः शु(ि)मान युक्तो, आद्यैः संहननैस्त्रिभिः।  
संधयायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वांश्रेणिं शमकः श्रयेत्॥  
तत्रष्टमे गुणस्थाने शुक्ल स)यानमादिमम्।  
धयातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः॥  
-गुणस्थान क्रमारोहः, श्लोक 40-51
2. भूत्वा\*थक्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः।  
पूर्ववद्भावसंयुक्तो द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत्।  
-वही, श्लोक 74
3. तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 330
4. तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 330-332, सूत्र 9/38/39
5. तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 331-335

को किनारे नैककर मार्ग सफ बना लेता है। ऐसा कर लेने के पश्चात् ही वह यु) में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार श्रेणि आरोहक जीव श्रेणि आरोहण में श्रेणी आरोहण में बाधाक पहाड़ जैसी दीर्घ स्थिति का घात कर उसको स्रस्व बनाता है। वह विषतत्त्व रूप प्रबल रस का घात कर मन्द रस करता है तथा गुण श्रेणि द्वारा उन दीर्घरस रूप विषतत्त्वों और दीर्घ स्थिति खण्डों को उदयावलिका रूप किनारे से डालकर अपूर्व स्वल्प स्थिति का बन्धा कर अपना श्रेणि आरोहण का मार्ग प्रशस्त करता है। तत्पश्चात् (विश) भावों का आश्रय लेकर वह श्रेणि चढ़ता है। उस समय वह अपना उपयोग इन कार्यों में लगाता है। यदि वह सेनापति उस समय इन कार्यों में उपयोग नहीं लगाकर राष्ट्र की स्थिति का चिन्तन करने लग जाये तो वह यु) में फल नहीं हो सकता। उसी प्रकार कर्म यु) में प्रवृत्त हुआ श्रेणि आरोहक जीव इन कर्मों की श्रृंखला को तोड़ने में उपयोग न लगाकर श्रुतज्ञान के माध्यम से यदि किसी वस्तु के चिन्तन में उपयोग लगा दे तो वह कर्मयु) में हार जाता है। परिणामस्वरूप वह श्रेणि नहीं चढ़ सकता। इससे स्पष्ट है कि श्रेणि प्रारंभ करने वाले जीव के शुक्लध्यान की स्थिति गौण हो जाती है। अतः आठवें से दसवें

गुणस्थानवर्ती जीव धार्मध्यान में उपयोग लगाकर प्रबल आवरण रूप मोहनीय कर्म की उपशमना या क्षपणा करता है। मोहनीय कर्म की उपशमना या क्षपणा धार्मध्यान के माध्यम से ही होती है, ऐसा दिगम्बराचार्यों का भी मानना है। षट्खण्डागम की धावला टीका में कहा है 'मोह का सर्वोपशमन करना धार्मध्यान का ढल है क्योंकि कषाय सहित धार्मध्यानी के सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। तीन घाती कर्मों का निर्मूल विनाश करना एकत्व वितर्क अविचार ध्यान का ढल है किन्तु मोहनीय कर्म का विनाश धार्मध्यान का ढल है क्योंकि सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान के अन्तिम समय में उसका विनाश देखा जाता है।<sup>1</sup>

ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में भी मात्र शुक्लध्यान ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहाँ भी धार्मध्यान रहता है। आवश्यकनिर्युक्तिअवचूर्णि में भी इस संबंधा में कहा है कि उपशान्त मोह, क्षीण मोह और अप्रमादी

1. धावला पुस्तक 13 पृष्ठ 71, उदधृत- पं. रतनचंद जैन मुख्तार व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रका. आचार्य श्री शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शान्तिवीर नगर, श्री महावीरजी द्वारा ज. ऋ. वर्ष 1989, भाग 1, पृष्ठ 150

गुणस्थानवर्ती जीव धार्मध्यान के धयाता होते हैं।<sup>1</sup> बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी धार्मध्यान के अवलम्बन पूर्वक शुक्लध्यान के धयाता बनते हैं। तत्पश्चात् केवलज्ञान का वरण करते हैं। भगवान केवलज्ञान उत्पन्न होने से पहले धार्मध्यानी थे, ऐसा निरूपित करते हुए आचार्यसंग्रह में कहा है 'ऊर्ध्वजानू, अधोसिर, धार्मध्यान युक्त, ध्यानरूपी कोष्ठक में प्रविष्ट हुए भगवान जब शुक्लध्यान में वर्तमान थे तब अज्ञान दुःख से निवृत्ति कराने वाले, संपूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहत, निरावरण, अनन्त अनुत्तर, श्रेष्ठ केवलज्ञान, केवलदर्शन से संपन्न हुए।<sup>2</sup> इस विवेचन से भी स्पष्ट है कि क्षीण कषायी जीव धार्मध्यान के अवलम्बन पूर्वक शुक्लध्यान के धयाता बनते हुए केवलज्ञान का वरण करते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का एक भेद समुच्छिन्न क्रिया निवृत्तिरूप और चौदहवें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रिया\*प्रतिपाती शुक्लध्यान होता है।<sup>3</sup> ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में धार्मध्यान के अतिरिक्त चतुर्दश पूर्वधारी को शुक्लध्यान भी होता है। इन दोनों गुणस्थानों में पृथक्त्व वितर्क सविचार तथा एकत्व वितर्क अविचार, शुक्ल ध्यान के ये दो भेद पाये जा सकते हैं।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/108

कभी-कभी अपवाद स्वरूप चौदहपूर्वों के अभाव में भी किन्हीं-किन्हीं जीवों के इन गुणस्थानों में शुक्लध्यान संभव हो सकता है। जैसे- माषतुप और मरुदेवी माता के भी शुक्लध्यान संभव है।<sup>4</sup>

## २२. द्वाविंशति अधिकाकार : दशा

पहले तथा तीसरे गुणस्थान में मोक्ष मार्ग नहीं है। दूसरे गुणस्थान वाला जीव यद्यपि वर्तमान में मिथ्यात्व उन्मुख है तथापि वह मोक्ष मार्ग का अनुगामी है।

**प्रश्न-** तृतीय गुणस्थानवर्ती को मोक्ष मार्ग का अनुगामी क्यों नहीं माना ?

1. सव्वपभायरहिया मुणओ खीणोवसंत मोहा या।  
झायारो नाणधाणा धाम्मज्ञाणस्स निदिठा।।  
-आवश्यकनिर्युक्तेरवचूर्णि, भाग 2, पत्रक 86, गाथा 63
2. “उडढं जाणु अहो सिरस धाम्मज्ञाणोवगतस्स ज्ञाणकोठोवगतस्स सुक्कज्ञाणंतरियाए वटमाणस्स णेव्वाणे कसिणे पडिपुण्णे अवाहते निराववरणे अणते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुपण्णे।”  
-आयारंगसुत्तं, सम्मा. मुनि पुण्यविजयजी, भाग 1, पृष्ठ 277, सूत्र 772
3. तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ 334-335
4. “शुक्लेचाद्ये पूर्वविदः”  
-तत्त्वार्थसूत्र, 9/39

**उत्तर-** तृतीय गुणस्थान में वर्तमान जीव का, वीतराग मार्ग के प्रति श्र)ान नहीं है, उसमें सम्यक्त्व व ज्ञान का अभाव होने से उसे मोक्ष मार्ग का अनुगामी नहीं माना है। दूसरे गुणस्थानवर्ती जीव में सम्यक्त्व व ज्ञान का सद्भाव होने से उसे मोक्षमार्ग का अनुगामी मानने में बाधा नहीं है।

चौथे गुणस्थान से मोक्ष मार्ग प्रारंभ होता है और उत्तरोत्तर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त सभी गुणस्थानों में मोक्ष मार्ग प्रवर्तता है। तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु इनमें मोक्षमार्ग का ञल सम्प्राप्त होता है।<sup>1</sup>

छठे गुणस्थान में सर्वविरति या सर्वसंयम का प्रारंभ होता है जिससे उत्तरोत्तर सभी गुणस्थान ‘सर्वविरतिदशा’ वाले होते हैं। सातवें गुणस्थान से ‘अप्रमत्त दशा’ प्रारंभ होती है जिससे उत्तरोत्तर सभी गुणस्थान ‘अप्रमत्त संयत दशा वाले’ होते हैं।<sup>2</sup>

आठवें गुणस्थान में उपशम या क्षपक श्रेणी प्रारंभ होती है। उपशम श्रेणी ग्यारहवें तथा क्षपम श्रेणी बारहवें गुणस्थान में पूर्णता को प्राप्त करती है। जिससे

आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में 'उपशमक' या 'क्षपक' कोई एक दशा होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में 'उपशमक' तथा बारहवें गुणस्थान में 'क्षपक' दशा होती है। नवें गुणस्थान में उपशम या क्षपक क्रिया प्रारंभ होती है। ग्यारहवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर के सभी गुणस्थानों में 'वीतरागदशा' तथा 'यथाख्यातचारित्र्य' होता है। तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा परमात्मपद का प्रारंभ होता है जो चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है। चौदहवें गुणस्थान में आयोगीदशा का प्रारंभ होता है, यह दशा पूर्ववर्ती किसी भी गुणस्थान में नहीं होती<sup>3</sup>

### २३. त्रयोविंशति अधिकाकार शाश्वत-अशाश्वत

चौदह गुणस्थानों में से पहला, चौथा, पांचवां, छठा और तेरहवां ये पाँच गुणस्थान शाश्वत होते हैं अर्थात् इनमें गुणस्थानवर्ती जीव सदैव पाये जाते हैं, किसी भी समय ये गुणस्थान जीवों से रिक्त नहीं होते। शेष दूसरा, तीसरा सातवां, आठवां, नौवां, दसवां, ग्यारहवां, बारहवां और चौदहवां ये नौ

1. वही, 1/1
2. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 26-27
3. कर्मग्रंथ, भाग 2, पृष्ठ 28-48

गुणस्थान शाश्वत नहीं हैं, किसी समय इनमें जीव रहते हैं और किसी समय नहीं भी रहते।

### २४. चतुर्विंशति अधिकाकार : अन्तर

सास्वादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग का है और शेष गुणस्थानों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का है। कोई जीव किसी गुणस्थान से च्युत होकर पुनः जितने समय पश्चात् उस गुणस्थान को प्राप्त करता है, वह अन्तर कहलाता है। यहाँ सास्वादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण कहा गया है। इसका आशय यह मानना चाहिए कि कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अथवा सम्यक्त्व मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय की उद्वलना करने वाला छब्बीस प्रकृति की सत्ता वाला जीव अन्तःकरण के द्वारा औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर अनन्तानुबन्धी के उदय से सास्वादन सम्यक्त्व को प्राप्त कर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त करता है। यदि वही जीव अन्तःकरण के द्वारा सास्वादन गुणस्थान को पुनः प्राप्त करे तो जघन्य से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग समय व्यतीत होने पर प्राप्त करता है, उससे पूर्व नहीं। इसका कारण यह है कि सास्वादन गुणस्थान से मिथ्यात्व गुणस्थान में

आने पर सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय की सत्ता अवश्य रहती है। इन दोनों की सत्ता रहने पर औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में स्थित जीव प्रति समय इन दोनों प्रकृतियों के दलिकों को मिथ्यात्व में प्रक्षेप करता है। इस क्रम से प्रक्षेप करते हुए पल्योपम के असंख्यातवें भाग में वह इन दोनों कर्मों की सत्ता से रहित हो जाता है और उसके बाद कोई जीव उपशम श्रेणि चढ़कर पुनः सास्वादन गुणस्थान को प्राप्त करता है तो उसका जघन्य से भी अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। श्रेणि रहित उपशम समकित से च्युत हुए जीव की अपेक्षा से सास्वादन गुणस्थान का यह अन्तर जानना चाहिए।<sup>1</sup> किन्तु यदि कोई जीव उपशम श्रेणि से गिरकर सास्वादन गुणस्थान में आता है फिर मिथ्यात्व में रहकर अन्तर्मुहूर्त में श्रेणि चढ़कर पुनः गिरकर सास्वादन गुणस्थान में आता है तो उस अपेक्षा में सास्वादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर बहुत कम होता है। यह अन्तर उपशम श्रेणि करने वाले मनुष्य की अपेक्षा से है। ऐसी घटना बहुत कम होती है इसलिए यहाँ इसकी विवक्षा नहीं की जा रही है। इस प्रकार उपशम समकित

1. पंचसंग्रह, द्वार 2, पत्रक 28, गाथा 95

से च्युत सास्वादन सम्यक्त्व का अन्तर जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण घटित हो जाता है।<sup>1</sup> क्षीण मोहनीय, सयोगी केवल और अयोगी केवल इन तीन गुणस्थानों का अन्तर नहीं होता है क्योंकि एक बार प्राप्त होने पर जीव का इनसे पुनः पतन नहीं होता है। इनके अतिरिक्त पहले एवं चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है क्योंकि उपशम श्रेणि से गिरकर पुनः श्रेणि चढ़ने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त में ही इन गुणस्थानों को प्राप्त कर लेता है। श्रेणि आरोहक जीव मिश्र गुणस्थान का स्पर्श नहीं करता। अतः श्रेणि गमन के अभाव में पहले एवं तीसरे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त होता है।<sup>2</sup>

मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक दो छियासठ अर्थात् एक सौ बत्तीस सागरोपम होता है। इसका आशय यह है कि कोई जीव छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन कर अन्तर्मुहूर्त के लिए सम्यक् मिथ्यादृष्टि होकर पुनः क्षयोपशमी सम्यक्त्वी होकर छियासठ सागरोपम पर्यन्त सम्यक्त्व का पालन करने के पश्चात् भी यदि मोक्ष प्राप्त नहीं कर सका तो वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर एक सौ बत्तीस सागरोपम से कुछ अधिक होता है। यह बात कर्मग्रंथ की दृष्टि से है क्योंकि सि)त की दृष्टि से

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/111

तो 66 सागर जाजेरी है। जीवजीवाभिगमसूत्र में मिथ्यादृष्टि का अंतर 66 सागर का बताया है।

सास्वादन से लेकर उपशान्त मोहनीय गुणस्थान का उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धापुद्गल परावर्तन होता है। क्योंकि इन गुणस्थानों को प्राप्त करने के पश्चात् जीव अधिक से अधिक कुछ कम अर्धा पुद्गल काल तक ही संसार में परिभ्रमण करता है। तत्पश्चात् तो वह इन गुणस्थानों को प्राप्त कर अवश्य ही सि)-बु)-मुक्त बन जाता है। बारहवें से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त अन्तर नहीं है क्योंकि ये अप्रतिपाती गुणस्थान हैं।<sup>3</sup>

#### २५. पंचविंशति अधिकाकार : अल्पबहुत्व

ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव सबसे कम हैं, क्योंकि वे प्रतिपद्यमान-किसी विवक्षित समय में उस अवस्था को प्राप्त करने वाले चौपन और पूर्व प्रतिपन्न किसी विवक्षित समय से पहले उस अवस्था को प्राप्त हुए

1. वही, गाथा 95
2. वही, गाथा 95
3. पंचसंग्रह, द्वार 2, पत्रक 28, गाथा 95-96

1,2,3 आदि पाये जाते हैं। बारहवें गुणस्थान वाले उससे संख्यातगुणा हैं क्योंकि बारहवें गुणस्थान वाले प्रतिपद्यमान एक सौ आठ और पूर्व प्रतिपन्न शत पृथक्त्व द्वादो सौ से नौ सौ पर्यन्तऋ पाये जाते हैं। आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान वाले उससे परस्पर तुल्य किन्तु बारहवें गुणस्थान की अपेक्षा विशेषाधिकार हैं। तेरहवें गुणस्थान वाले इनसे संख्यातगुणा हैं क्योंकि ये जघन्य दो करोड़, उत्कृष्ट नौ करोड़ पाये जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान से सातवें गुणस्थान वाले संख्यात गुणा हैं क्योंकि ये कोटिसहस्रपृथक्त्व प्रमाण अर्थात् दो हजार करोड़ से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। इनकी अपेक्षा छठे गुणस्थान वाले संख्यात गुणा हैं क्योंकि अप्रमत्त की अपेक्षा प्रमादभाव ज्यादा जीवों में पाया जाता है। इनकी अपेक्षा पंचम गुणस्थान वाले असंख्यात गुणा हैं क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त गर्भज तिर्यच में भी देशविरतिगुणस्थान प्राप्त करने वाले होते हैं। इनकी अपेक्षा सास्वादन गुणस्थान वाले असंख्यात गुणा हैं क्योंकि सास्वादन गुणस्थान चारों गतियों में संभव है। इनकी अपेक्षा तीसरे गुणस्थान वाले असंख्यात गुणा हैं क्योंकि मिश्रदृष्टि का कालमान सास्वादन गुणस्थान की अपेक्षा असंख्यात गुणा हैं। इनकी अपेक्षा चौथे गुणस्थान वाले असंख्यात गुणा हैं क्योंकि यह चारों गतियों में सदैव पाया जाता है। अयोगी केवलि जीव इनसे अनन्तगुणा हैं क्योंकि सि) अनन्त गुणा हैं। सि) हैं

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/112

से मिथ्यात्वी अनन्तगुणा है क्योंकि साधारण वनस्पतिकायिक जीव सि)ों से अनन्तगुणा है तथा सभी साधारण वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्वी होने से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले जीव सि)ों से अनन्तगुणा है।<sup>1</sup>

1. पण, दो, खीण, दुजोगी णुदीरुअजोगिथेवउवसंता।  
संखगुण खीण सुहुमा नियटिअपुव्व समअहिया।।  
जोगि अपमत्त इयरे संखगुणा देससासणामीसा।  
अविरय आजोगिमिच्छा असंख चउरो दुवे णंता।।  
-षड्शीतिप्रकाशः, श्लोक 62-63

### ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट ब्दअऋ

1. अगुरुलघु चतुष्क- अगुरुलघु नाम, उपघात, पराघात नाम, उच्छ्वास नाम।
2. अनन्तानुबन्धी चतुष्क- अनन्तानुबन्धी क्रोधा, मान, माया, लोभ।
3. अंगोपांग त्रिक - औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।
4. अन्तराय पंचक- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।
5. अंतिम संहननत्रिक- अर्धानाराच, कीलिका, सेवार्तसंहनन।
6. अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क- अप्रत्याख्यानावरण क्रोधा, मान, माया, लोभ।
7. अस्थिर षट्क- अस्थिर नाम, अशुभ नाम, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम, अयशः कीर्ति नाम।



8. आपत द्विक- आतप नाम, उद्योत नाम।
9. आहारक द्विक- आहारक शरीर नाम, आहारक अंगोपांग नाम।
10. औदारिक द्विक- औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग।
11. ज्ञानावरण पंचक- मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्याय ज्ञानावरण केवल ज्ञानावरण।
12. जाति चतुष्क- एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।
13. तिर्यचत्रिक- तिर्यचत्रिक, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु।
14. तिर्यच द्विक- तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी।
15. त्रस दशक- त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ सुभग सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति।
16. दर्शनावरण चतुष्क- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण।
17. दर्शन मोह त्रिक- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय।
18. दुर्भग त्रिक- दुर्भग नाम, दुःस्वरनाम, अनादेय नाम।
19. देव द्विक- देवगति, देवानुपूर्वी।
20. दो युगल- हास्य- रति, शोक- अरति।
21. नरत्रिकर ( मनुष्य त्रिक )- मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु।
22. नरक त्रिक- नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।
23. नरक द्विक - नरकगति, नरकानुपूर्वी।
24. निद्राद्विक- निद्रा, प्रचला।
25. निद्रापंचक- निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, प्रचला स्त्यानि।
26. नोकषाय नवक- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।
27. प्रत्याख्यानावरण चतुष्क- प्रत्याख्यानावरण क्रोधा, मान, माया, लोभ।
28. मध्यम संस्थान चतुष्क- न्यग्रोधा परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान।
29. मध्यम संहनन चतुष्क- षभ नाराच संहनन, नाराच, अर्धा नाराच,

कीलिका संहनन।

30. **वर्ण चतुष्क-** वर्णनाम, गंधानाम, रसनाम, स्पर्शनाम।
31. **विकल त्रिक-** द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नाम।
32. **विहायोगति द्विक-** शुभ विहायोगति, अशुभविहायोगति नाम।
33. **वैक्रिय अष्टक-** वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देव गति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।
34. **संज्वलन कषाय चतुष्क-** संज्वलन क्रोधा, मान, माया, लोभा।
35. **संस्थान षट्क-** समचतुरस्र, न्यग्रोधा परिमंडल सादि, वामन कुब्ज, हुंड संस्थान।
36. **संहनन षट्क-** वज्र; षभनाराच, षभनाराच, नाराच, अर्धानाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन।
37. **सूक्ष्मत्रिक-** सूक्ष्मनाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम।
38. **सत्यानर्द्धि त्रिक-** स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला- प्रचला।
39. **स्थावर द्विक-** स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम।
40. **हास्य षट्क-** हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा।

### ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट द्द्वबत्रह

- १ अंगोपांग नाम कर्म - मस्तकादि अंग तथा अंगुली आदि उपांग हैं इनके बनने में निमित्त भूतकर्म अंगोपांग नाम कर्म है।
- १ अकाम निर्जरा - बिना इच्छा के होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है।
- १ अगुरु लघु नामकर्म - जिस कर्म के उदय से प्राणियों का शरीर भारी न हो, लघु न हो, गुरु लघु न हो किन्तु यथायोग्य अगुरुलघु परिणाम को परिणत हो उसे अगुरु लघुनाम कर्म कहते हैं।
- १ अघातिनी प्रकृति - जो प्रकृतियां आत्मिक गुणों की घात नहीं करती वे अघातिनी प्रकृतियां होती हैं।
- १ अचक्षु दर्शन - चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रियां और मन से होने

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/115

वाला दर्शन अचक्षु दर्शन है।

- १ अचक्षु दर्शनावरण - अचक्षु दर्शन का आवरण करने वाला कर्म अचक्षु दर्शनावरण है।
- १ अचेल - अल्प मर्यादित वस्त्र, वस्त्रभाव अथवा जीर्ण वस्त्र के कारण होने वाले कष्ट को समभाव पूर्वक सहन करना अचेल परीषह है।
- १ अजीव - चेतना रहित जड़तत्त्व अजीव है।
- १ अनन्तानुबंधी कषाय - जो कषाय अनन्त संसार के बांधने के स्वभाव वाला है, उन्हें अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं।
- १ अनादि अनन्त - जिसकी परम्परा अनादि काल से चली हो तथा जिसका कभी विच्छेद नहीं हुआ हो और न भविष्य में होगा वह अनादि अनन्त है।
- १ अनादि सान्त - जिसकी परम्परा अनादि से चली हो किन्तु विच्छेद को प्राप्त होगी वह अनादि सान्त है।
- १ अनादेय कर्म - जिसके उदय से योग्य वचन बोलता हुआ भी पुरुष उपादेय वचन वाला नहीं होता और न अभ्युत्थान आदि के ही योग्य होता है, वह अनादेय नामकर्म है।
- १ अनाहारक - किसी भी प्रकार का आहार नहीं ग्रहण करने वाला जीव अनाहारक है।
- १ अनिवृत्ति करण - जिसके प्राप्त होने पर जीव अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह अनिवृत्तिकरण है।
- १ अनिवृत्ति बादर संपराय - जिसमें स्थूल कषाय उदय में हो तथा समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता हो, वह अनिवृत्ति बादर संपराय है।
- १ अनुभाग बंधा - कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं की नल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता मन्दता का निश्चय करना अनुभाग बंधा कहलाता है।
- १ अन्तरकरण - एक आवली या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे और

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/116

ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनको बंधाने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करना अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण की क्रिया में जो काल लगता है वह भी उपचार से अन्तरकरण है।

- १ अन्तराय कर्म - जो जीव को दानादिक की प्राप्ति में व्यवधान उपस्थित करता है वह अन्तराय कर्म है।
- १ अन्तः कोडाकोडी - कुछ कम एक कोडाकोडी।
- १ अपर्याप्त - जिसके उदय से जीव योग्य पर्याप्तियों का निर्माण करने में समर्थ नहीं होता वह अपर्याप्त नाम कर्म है।
- १ अपवर्तना - ब) कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष से कभी कर देना अपवर्तना है।
- १ अपूर्वकरण - जिस परिणाम द्वारा राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़कर लांघा जाता है वह अपूर्वकरण है।
- १ अपूर्वस्थिति बंधा - पहले की अपेक्षा अत्यल्प स्थिति के कर्मों को बांधाना अपूर्व स्थिति बंधा है।
- १ अप्रत्याख्यानावरण कषाय - जिसके उदय से स्वल्प भी प्रत्याख्यान न हो सके वे अप्रत्याख्यानावरण कषाय हैं।
- १ अप्रमत्त संयत गुणस्थान - जो पांच प्रमादों का सेवन नहीं करते वे अप्रमत्त संयत हैं उनके उस स्वरूप विशेष को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं।
- १ अबंधा प्रकृति - विवक्षित गुणस्थान में वह प्रकृति न बंधो किन्तु आगे के स्थान में उस कर्म का बंधा हो, उसे अबंधा प्रकृति कहते हैं।
- १ अभण्य - अनादि तथा विधा पारिणामिक भाव के कारण

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/117

मोक्ष जाने की योग्यता रहित अभण्य है।

- १ अम्ल रसनाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में अम्ल रस उत्पन्न होता है, वह अम्ल रस नामकर्म है।
- १ आयोगी केवली - योग निरोधा के पश्चात् चौदहवें गुणस्थान में रहने वाले तथा सि) भगवान आयोगी केवली कहलाते हैं।
- १ अयशः कीर्ति नाम कर्म यशः- कीर्ति जिस कर्म के उदय से होते हैं वह यशः कीर्ति नाम है इसके विपरीत अयशः कीर्ति नाम कर्म है, जिसके उदय से मध्यस्थ भी रहने वाला मनुष्य लोकों द्वारा प्रशंसनीय नहीं हो पाता।
- १ अधयवसाय - स्थितिबंधा के कारण भूत कषाय जन्य आत्म परिणाम अधयवसाय करते हैं।
- १ अरति - संयम जीवन में अनेक कठिनाईयों को सहन करते हुए अरति का प्रसंग आने पर अरति न लाते हुए धैर्य पूर्वक उसमें लीन होना अरति है।
- १ अरति मोहनीय - जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में अप्रीति हो, वह अरति मोहनीय है।
- १ अर्धा नाराच संहनन नामकर्म- जिसके एक पार्श्व- बाजू में मर्कट बन्धा हो और दूसरे पार्श्व में कीलिका बंधा हो वह अधर्धा नाराच संहनन नामक चौथा संहनन है।
- १ अलाभ परिषह - याचना करने पर भी आहारादि न मिले अथवा अनुकूल न मिले तो उसे समभाव पूर्वक सहन करना अलाभ परिषह है।
- १ अवधि ज्ञान - मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी अर्थात् मूर्त द्रव्यों का जो ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।
- १ अवधि ज्ञानावरण कर्म - अवधि ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म अवधि ज्ञानावरण कर्म है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/118

- ७ अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान - दोषों से विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम जो आंशिक रूप से भी चारित्र्य ग्रहण करने में विघ्न डालता है।
- ७ अशुभ नाम कर्म - जिसके उदय से नाभि के नीचे के पैरादि अवयव अशुभ हो, वह अशुभ नाम कर्म है।
- ७ अशुभ विहायोगति नाम कर्म - जिसके उदय से जीव की अप्रशस्त गति होती है। वह अशुभ विहायोगतिनाम कर्म है। जैसे ऊंट गर्दन आदि की अप्रशस्त गति होती है।
- ७ अश्व कर्ण करण - घोड़े के कान के समान मूल में चौड़ा और उत्तरोत्तर घटने के समान जिस करण में संज्वलन क्रोधा से लेकर लोभपर्यन्त का अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्त गुणहीन होता जाता है, उस करण को अश्वकर्ण करण कहते हैं।
- ७ असत्य मनोयोग - जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो अथवा सत्य मनोयोग से विपरीत मनोयोग असत्य मनोयोग है।
- ७ असत्य वचन योग - असत्य वचन वर्गणा के निमित्त होने वाले योग अथवा किसी वस्तु को अयथार्थ (सि) करने वाले वचन को वचन योग कहते हैं।
- ७ असत्यामृषा मनोयोग - जो मन योग न सत्य हो और न मृषा उसे असत्यामृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाला योग असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है अथवा जिस मनोयोग का चिन्तन विधि निषेधा शून्य हो, जो चिन्तन न किसी वस्तु की स्थापना करता हो और न निषेधा उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं।
- ७ असत्या मृषावचन योग - जो वचन योग न तो सत्य रूप हो और न मृषा रूप ही हो अथवा जो वचन योग किसी वस्तु के स्थापना उत्थापन के लिए प्रवृत्त नहीं होता उसे असत्यामृषा वचन योग कहते हैं।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/119

- १ अज्ञान - विशिष्ट शास्त्र ज्ञान होने पर गर्व न करना तथा न होने पर हीन भाव न लाना अज्ञान परीषह हैं।
- १ आक्रोश - कोई आक्षेप जनक अथवा कठोर वचन कहे उसे समभाव पूर्वक सहन करना आक्रोश परीषह है।
- १ आगाल - उदीरणा प्रयोग के द्वारा द्वितीय स्थिति में से कर्म दलिकों को आकर्षित करके उदय में प्रक्षेपण करना आगाल कहलाता है।
- १ असाता वेदनीय कर्म - जिसके उदय से अनुकूल इन्द्रिय विषयों की अप्राप्ति तथा प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति होने पर असाता की वेदना हो वह असाता वेदनीय कर्म है।
- १ अस्थिर नाम कर्म - जिसके उदय से जिह्वादि शरीर के अवयवों की अस्थिरता रहती है वो अस्थिर नाम कर्म है।
- १ आतप नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर मूल स्वरूप से तो अनुण उष्णता रहित, शीतलऋ होते हुए भी उष्ण प्रकाश स्पताप करते हैं, वह आतपनाम कर्म हैं। इस कर्म का विपाक सूर्यमंडलगत पृथ्वीकायिक जीवों में होता है, अग्नि में नहीं, अग्नि में आतप नाम कर्म के उदय का प्रवचन में निषेधा किया गया है किन्तु अग्नि में उष्णता उष्ण स्पर्श नाम कर्म के उदय से तथा उत्कट लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय से प्रकाशपना कहा गया है।
- १ आदेय नाम कर्म - जिसके उदय से जिस किसी भी वचन को लोक प्रमाण मानते हैं और जिसको देखने के अनन्तर आदर सत्कार हेतु अभ्युत्थानादि का आचरण करते हैं वह आदेय नाम कर्म है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/120

- १ आनुपूर्वी नाम कर्म - विग्रह से भवान्तर के उत्पत्ति स्थान को जाते हुए जीव की श्रेणी द्वाकाश प्रदेश पंक्तिऋ के अनुसार नियत रूप से जो गमन परिपाटी होती है, उसे आनुपूर्वी कहते हैं और इस प्रकार के विपाक का वेदन कराने वाली कर्म प्रवृत्ति भी आनुपूर्वी नाम कर्म कहलाती है।
- १ आयुः कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यच और नरक रूप में जीता है और उसके क्षय होने पर उन उन रूपों का त्याग करता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है वह आयुः कर्म है।
- १ आर्त्तध्यान - जो अधयवसाय दुःख का कारण है व ह आर्त्तध्यान है।
- १ आवली - असंख्यात समय की एक आवली होती है।
- १ आश्रव - शुभाशुभ कर्मों के आगमन का द्वार आश्रव है।
- १ आहारक - ओज, रोम, कवल आहार में से किसी भी आहार को ग्रहण करने वाला आहारक है।
- १ आहारक अंगोपांगनाम कर्म - जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयवों का निर्माण हो उसे आहारक अंगोपांग नाम कर्म कहते हैं।
- १ आहारक काय योग - आहारक शरीर और उसकी सहायता से होने वाला वीर्यशक्ति का व्यापार आहारक काय योग है।
- १ आहारक कार्मण - पूर्व गृहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का पूर्व गृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है वह आहारक कार्मण बंधन है।
- १ आहारक तैजस कार्मण - पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण आहारक, तैजस



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/121

**बंधान नाम कर्म**

और कर्मण पुद्गलों का जो परस्पर सम्बन्धा होता है वह आहारक तैजस कर्मण बंधान नाम कर्म है।

- १ **आहारक मिश्र काय योग** - आहार शरीर की उत्पत्ति के प्रारंभ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्त पूर्ण होने पर्यन्त अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारक मिश्र काय कहते हैं, और उसके द्वारा उत्पन्न योग को आहारक मिश्र काय योग कहते हैं अथवा आहारक और औदारिक इन दो शरीरों के मिश्रत्व द्वारा होने वाले वीर्य शक्ति के व्यापार को आहारक मिश्र काय योग कहते हैं।
- १ **आहारक शरीर** - प्राणिदया, तीर्थकरों की ;द्विका देखना, सूक्ष्म पदार्थ का जानना, संशय निवारण इत्यादि कारण उपस्थित होने पर चौदह पूर्वधारी मुनिराज योगबल से जो शरीर बनाते हैं उसे आहारक शरीर कहते हैं।
- १ **आहारक शरीर नाम कर्म**- जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर की प्राप्ति होती है वह आहारक शरीर नाम कर्म है।
- १ **आहारक शरीर** - जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत आहारक पुद्गलों का गृह्यमाण आहारक पुद्गलों के साथ संबन्धा हो वह आहारक शरीर बंधान नाम कर्म है।
- १ **आहारक संघातन नाम कर्म** - जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो उसे आहारक संघातक नाम कर्म कहते हैं।
- १ **उच्च गोत्र** - जिसके उदय से उत्तम जाति, कुल, बल, तप, रूप, ऐश्वर्य, शास्त्र ज्ञान, सत्कार, अभ्युत्थान, आसन प्रदान और अंजलि प्रग्रह हाथ जोड़ना आदि संभव होता है वह उच्च गोत्र कर्म है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/122

- १ उदय - यथायोग्य द्धस्व-स्व बंधा योग्यऋ स्थिति सहित बंधो हुए कर्म पुद्गलो का अबाधाकाल के क्षय होने के अनन्तर अथवा अपवर्तनादि कारण विशेष से उदय समय के प्राप्त होने पर जो अनुभव किया जाता है वह उदय है।
- १ उदीरणा - उदयकाल को प्राप्त नहीं हुए कर्मों का अधयवसाय विशेष से पूर्व उदय हेतु उदयावलि में प्रविष्ट करना, अवस्थित करना या नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना अथवा अनुदयकाल को प्राप्त कर्मों को नलोदय की स्थिति में ला देना उदीरणा है।
- १ उद्योतनाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर अनुष्ण-शीतल प्रकाश रूप उद्योत करते हैं जैसे साधु और देव के उत्तर वैक्रिय शरीर में से तथा चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के विमानों, रत्नों और औषधि विशेषों में से शीतल प्रकाश निकलता है वह उद्योतनाम कर्म है।
- बंधन नाम कर्म
- १ उद्वर्तना - ब) कर्मों की स्थिति उद्वर्तना है।
- १ उद्वलन - यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणामाना उद्वलन है।
- १ उद्वलना संक्रम - अति सघन कर्म दलिकों से युक्त कर्म प्रकृतियों के दलिकों का उद्वलन अथवा उत्कीरण या उत्खनन करने को उद्वलना संक्रम कहते हैं अथवा यथाप्रवृत्त करण आदि परिणामों के बिना रस्सी को उकेलने के समान कर्म परमाणुओं के पर प्रकृति रूप से निक्षेपण को उद्वलन संक्रम कहते हैं।
- १ उपघात नाम कर्म - जिसके उदय से प्रति जिह्वा, गलवृन्द, लम्बक

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/123

चौरदन्त आदि के द्वारा प्राणी उपघात को प्राप्त हो अथवा स्वयं कृत बंधन ड्वांसीत्र, भैख प्रताप अर्थात् भयंकर पर्वत आदि से गिरने आदि द्वारा मारा जाये, उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं।

- १ उपभोगान्तराय कर्म - उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।
- १ उपयोग - जीव के बोधा रूप व्यापार को उपयोग कहते हैं।
- १ उष्ण स्पर्श नाम कर्म - जिस नाम कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है वह उष्णस्पर्श नाम कर्म है।
- १ बंधन नाम कर्म
- १ उपशम - प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है।
  - कर्म की जिस अवस्था में उदय उदीरणा नहीं होती वह उपशमन है।
- १ उपशम श्रेणि - जिस श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशमन किया जाता है वह उपशम श्रेणि है।
- १ उपशान्त कषाय वीतराग - जिन जीवों के कषाय उपशान्त हो गये हैं, राग का सर्वथा उदय नहीं होता और आवरणभूत घातिकर्म लगे हैं उन जीवों की उस अवस्था विशेष को उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।
- १ उपशान्ता ऽ) - औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ता)। कहते हैं।
- १ एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म- जिस नाम कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक स्पर्श इन्द्रिय प्राप्त हो वह एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म है।
- १ औदायिक भाव - कर्मों के उदय से होने वाला भाव औदायिक भाव है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/124

- ७ औदारिक अंगोपांग - जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों की औदारिक शरीर के अंग और उपांग के विभाग रूप से परिणति होती है, वह औदारिक अंगोपांग नाम कर्म है।
- ७ औदारिक-औदारिक - पूर्ण गृहीत औदारिक पुद्गलों को गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है, वह औदारिक औदारिक बंधान है।
- ७ औदारिक काय योग - औदारिक शरीर के वीर्य शक्ति के व्यापार को औदारिक काय योग कहते हैं।
- ७ औदारिक कर्मण बंधान - पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का पूर्ण गृहीत एवं गृह्यमाण कर्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्धा औदारिक कर्मण बंधान है।
- ७ औदारिक तैजस् कर्मण - पूर्व गृहीत औदारिक पुद्गलों का गृह्यमाण तैजस कर्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्धा औदारिक तैजस कर्मण बंधान है।
- ७ औदारिक तैजस - पूर्व गृहीत औदारिक पुद्गलों का गृह्यमाण तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्धा औदारिक तैजस बंधान नाम कर्म है।
- ७ औदारिक मिश्र काय योग- औदारिक और कर्मण इन दोनों शरीरों की सहायता से होने वाले वीर्य शक्ति के व्यापार को अथवा औदारिक मिश्र काय द्वारा होने वाले प्रयत्नों को औदारिक मिश्र काय योग कहा जाता है।
- ७ औदारिक शरीर नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर प्राप्त हो वह औदारिक शरीर नाम कर्म है।
- ७ औदारिक-औदारिक - पूर्व गृहीत औदारिक पुद्गलों का गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है वह औदारिक-औदारिक बंधान नाम कर्म है।
- ७ औदारिक संघातन नाम कर्म- जिसके द्वारा औदारिक शरीर के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/125

हैं वह संघातन नाम कर्म है।

- १ औपशमिक भाव - मोहनीय कर्म के उपशम से होने वाला भाव औपशमिक भाव है।
- १ औपशमिक चारित्र - चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से व्यक्त होने वाला स्थिरात्मक आत्म परिणाम औपशमिक चारित्र है।
- १ औपशमिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शन मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व है।
- १ कटुरस नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में कटु रस उत्पन्न होता है, वह कटु रस नाम कर्म है।
- १ कण्डक छद्मस्थ गुणस्थान - अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रगत प्रदेशों की संख्या परिमाण को कण्डक कहते हैं।
- १ कर्म - मिथ्यात्व अविरति प्रमाद, कषाय एवं योग के निमित्त से हुई जीव की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं सम्ब) तद्योग पुद्गल परमाणु कर्म है।
- १ कषाय-कष - संसार का आय-लाभ जिनसे हों वे कषाय है।
- १ कषाय रस नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में कषाय रस उत्पन्न होता है वह कषाय रस नाम कर्म है।
- १ कापोतलेश्या नाम कर्म - कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्धा से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना कि जिससे मन वचन काया की प्रवृत्ति में वक्रता ही वक्रता रहे सरलता न रहे। दूसरों को कष्ट पहुंचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति हो इस प्रकार के परिणामों को कापोतलेश्या कहते हैं।
- १ कार्मण काय योग बंधन नाम कर्म - कार्मण काय के द्वारा होने वाला योग अर्थात् अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/126

- के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य  
द्विशक्तिऋ के निमित्त से आत्म प्रदेश  
परिस्पन्दन रूप प्रयत्न होना कार्मण काय योग  
क ह ल ा त ा  
है। कार्मण शरीर की सहायता से होने वाली  
आत्म शक्ति की प्रवृत्ति को कार्मण काय योग  
कहते हैं।
- नाम कर्म
- १ कार्मण शरीर बंधन नाम कर्म - ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना शरीर कार्मण शरीर है।
- २ कार्मण शरीर नाम कर्म बंधन नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को कार्मण शरीर की प्राप्ति हो वह कार्मण शरीर नाम कर्म है।
- ३ कार्मण शरीर बंधान नाम कर्म- पूर्व गृहीत कार्मण शरीर के पुद्गलों का गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्धा कार्मण शरीर बंधान नाम कर्म है।
- ४ कार्मण संघातन नाम कर्म- जिसके द्वारा कार्मण शरीर के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते हैं, वह संघातन नाम कर्म है।
- ५ किटी वेदन काल - किटी के वेदन-अनुभव करने के काल को किटी वेदन काल कहते हैं।
- ६ किटीकरण बंधन नाम कर्म - किटी कृश करना अर्थात् पूर्व स्पर्धाक एवं अपूर्व स्पर्धाकों से वर्गणाओं को ग्रहण करके और उनके रस को अनन्त गुणहीन करके अविभाग प्रतिच्छेदों के अन्तराल में स्थापित करने को किटीकरण कहते हैं।
- ७ कीलिका संहनन नाम कर्म- जिसमें हड्डियां केवल कीलों से बंधी होती है, वह कीलिका नामक पांचवां संहनन है।
- ८ कुब्ज संस्थान नाम कर्म - जिस शरीर में शिर, ग्रीवा, हाथ, पैर आदि अवयव तो यथोक्त प्रमाण वाले लक्षण से युक्त हों किन्तु वक्ष स्थल और उदरादि कूबड़ युक्त हों वह कुब्ज संस्थान है।
- ९ कृतकरण - सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम स्थिति

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/127

खण्ड को क्षपाने वाले क्षपक को कृतकरण कहते हैं।

- १ कृष्णलेश्या - काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्धा से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे हिंसादि पांच आश्रवों में प्रवृत्ति हो, वह कृष्ण लेश्या है।
- १ कृष्ण वर्ण नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में कृष्ण वर्ण उत्पन्न हो, वह कृष्ण वर्ण नाम कर्म है।
- १ केवल ज्ञान - सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को हस्तामल कवत आत्मा से प्रत्यक्ष जाना केवल ज्ञान है।
- १ केवल ज्ञानावरण कर्म - केवल ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म केवल ज्ञानावरण है।
- १ केवल दर्शन - केवल ज्ञान के साथ सम्पूर्ण द्रव्य पर्यायों को दर्शन सामान्यावबोधा को केवल दर्शन कहते हैं।
- १ केवल दर्शनावरण कर्म - केवल ज्ञान के साथ होने वाले दर्शन सामान्यावबोधा को केवल दर्शन कहते हैं और उसका आवरण करने वाला कर्म केवल दर्शनावरण है।
- १ केवली समुद्घात - सर्वज्ञ प्रभु चार अघातिय कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति कम और वेदनीय नाम तथा गोत्र की स्थिति अधिक रहती है, तब पहले अन्तर्मुहूर्त तक आवर्जीकरण करते हैं और पीछे अन्तर्मुहूर्त बाकी रहने पर जो समुद्घात करते हैं, उसे केवली समुद्घात कहते हैं।
- १ कोड़ा कोड़ी - एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त राशि कोड़ा कोड़ी है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/128

- १ क्रोधा - स्वभाव को भूलकर आक्रोश से भर जाना, दूसरे पर रोष करना क्रोधा है।
- १ क्षपक श्रेणि - जिस श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का समूल नाश किया जाये, वह क्षपक श्रेणि है।
- १ क्षय - विच्छेद होने पर पुनः बंधा की सम्भावना न होना क्षय है।
- १ क्षयोपशम - वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धाकों का उदय भावीक्षय और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सद्वस्था रूप उपशम तथा देश घाती स्पर्धाकों का उदय क्षयोपशम कहलाता है अर्थात् कर्म की उदयावलि में प्रविष्ट मन्दरसस्पर्धाक का क्षय और अनुदयमान रसस्पर्धाक की सर्वघातिनी विपाक शक्ति का निरोधा या देश घाती रूप में परिणमन व तीव्र शक्ति का मन्द शक्ति रूप में परिणमन द्धउपशमऋ क्षयोपशम है।
- १ क्षायिक ज्ञान - अपने आवरण कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर देने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान क्षायिक ज्ञान है।
- १ क्षायिक भाव - कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रकट होने वाला भाव क्षायिक भाव है।
- १ क्षायिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शन मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में तत्त्व रुचि रूप प्रकट होने वाला परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व है।
- १ क्षायिक सम्यग्दृष्टि - अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय करके समकित प्राप्त करने वाला जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि है।
- १ क्षायोपशमिक ज्ञान - अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है।



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/129

- १ क्षायोपशमिक भाव - कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होने वाला भाव क्षायोपशमिक भाव है।
- १ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व इन छः प्रकृतियों के उदयभावी क्षय और इन्हीं के सद्वस्था रूप उपशम से तथा देश घाती स्पर्धाक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से आत्मा में जो तत्त्वार्थ श्रान रूप परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय तथा उपशम और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।
- १ क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि - मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में से क्षय योग्य प्रकृतियों के क्षय और शेष रही प्रकृतियों को उपशम करने से सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव को क्षायोपशमिक सम्यक् दृष्टि कहते हैं।
- १ क्षीय कषाय वीतराग - जिन्होंने मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया है किन्तु शेष छद्म द्धघाति कर्मों का आवरणऋ अभी विद्यमान है उनकी इस अवस्था विशेष को क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।
- १ क्षुधा परीषह - अत्यन्त भूख की वेदना हो फिर भी मर्यादा विपरीत आहार ग्रहण नहीं कर भूख को समभाव पूर्वक सहन करना क्षुधा परीषह है।
- खर स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में खर स्पर्श पैदा हो, वह खर स्पर्श नाम कर्म है।
- १ गंधा नाम कर्म - गंधा का कारण भूत गंधानाम कर्म है।
- १ गति - जो तथाविधा नाम कर्म की सहायता से जीवों द्वारा गम्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य होती है,

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/130

अथवा प्राप्त की जाती है उसे गति कहते हैं अर्थात् नारकत्व आदि पर्याय की परिणति होना गति कहलाती है।

- १ गति नाम कर्म - जिसके उदय से आत्मा उस-उस नारकादि पर्याय में गमन करे वह गति नाम कर्म है।
- १ गुण संक्रमण - जहां पर प्रति समय असंख्यात गुण श्रेणि क्रम से परमाणु प्रदेश अन्य प्रकृति रूप परिणत हो वह गुण संक्रमण है। गुण संक्रमण अप्रमत्त संयत गुणस्थान से आगे के गुण स्थानों में होता है और विशु(ि) के वश प्रति समय असंख्यात गुणित वृ(ि) के क्रम से अवधयमान अशुभ प्रकृतियों के द्रव्य को शुभ प्रकृतियों में दिया जाता है।
- १ गुण संक्रमण - पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंधाने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुण संक्रमण है।
- १ गुण श्रेणी - जिन कर्म दलिकों का स्थितिघात किया जाता है, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुण श्रेणी है अथवा ऊपर की स्थिति में उदय क्षण से लेकर प्रति समय असंख्यात गुणे-गुणे कर्म दलिकों की रचना को गुण श्रेणी कहते हैं।
- १ गुरु स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में गुरु स्पर्श उत्पन्न हो वह गुरु स्पर्श नाम कर्म है।
- १ गोत्र कर्म - जो उच्च नीच शब्दों द्वारा उच्च और नीच कुल में उत्पत्ति रूप पर्याय विशेष को व्यक्त करे, उसे गोत्र कहते हैं। इस प्रकार के विपाक को वेदन करने वाला कर्म भी गोत्र कर्म कहलाता है।
- १ ग्रंथि - कर्मों से होने वाले जीव के तीव्र राग द्वेष रूप

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/131

परिणाम ग्रन्थि हैं।

- १ घातिकर्म - आत्मा के अनुजीवी गुणों का आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने वाले कर्म घाति कर्म हैं।
- १ घातिनी प्रकृति - जो कर्म प्रकृति आत्मिक गुणों का ज्ञानादिक का घात करती है वह घातिनी प्रकृति है।
- १ चक्षुदर्शन - चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन को चक्षु दर्शन कहते हैं।
- १ चक्षु दर्शनावरण कर्म - चक्षु दर्शन का आवरण करने वाला कर्म चक्षु दर्शनावरण है।
- १ चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म- जिस नाम कर्म के उदय से जीव को कान को छोड़कर शेष चार इन्द्रियां प्राप्त हो वह चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म है।
- १ चर्या - अप्रतिब) विहार का कष्ट सहना चर्यापरीषह है।
- १ चारित्र मोहनीय कर्म - आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चारित्र है। चारित्र गुण को घात करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय कर्म कहलाता है।
- १ छेदोपस्थापनीय संयम छद्मस्थ गुणस्थान - पूर्व संयम पर्याय का छेदकर फिर से उपस्थान करना छेदोपस्थापनीय संयम है।
- १ जल्ल - शरीर पर पसीने का मैल जम जाये उसे समभाव पूर्वक धारण करना जल्ल परीषह है।
- १ जाति - एकेन्द्रिय आदि जीवों के लिए एकेन्द्रित आदि शब्द की प्रवृत्ति के कारणभूत और उस प्रकार की समान परिणति लक्षण वाले सामान्य को जाति कहते हैं।
- १ जाति नाम कर्म - जाति नाम कर्म के विपाक का वेदन कराने वाली प्रकृति जाति नाम कर्म है।
- १ जाति भव्य - जो भव्य मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नहीं मिल पाती हैं जिससे वे

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/132

- मोक्ष प्राप्त कर सके ऐसे जीव जाति भव्य हैं।
- १ जुगुप्सा मोहनीय - जिसके उदय से जीव शुभ या अशुभ वस्तु से ग्लानि करता है, वह जुगुप्सा मोहनीय है।
  - १ ज्ञान - सामान्य विशेष धार्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करने वाला बोधा ज्ञान कहलाता है।
  - १ ज्ञानावरण कर्म - जिसके द्वारा ज्ञान आवृत्त किया जाता है वह ज्ञानावरण कर्म है।
  - १ तिक्त रस नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में मिर्च आदि के समान तिक्त रस उत्पन्न होता है वह तिक्त रस नाम कर्म है।
  - १ तिर्यच - तिर्यक् गमन करने वाले तिर्यच गति नाम कर्म के उदय वाले जीव तिर्यच हैं।
  - १ तिर्यच गति नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से होने वाली पर्याय द्वारा जीव तिर्यच कहलाता है, उसे तिर्यच गति नाम कर्म कहते हैं।
  - १ तिर्यचाय - जिस नाम कर्म के उदय से तिर्यच गति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है उसे तिर्यचायु कहते हैं।
  - १ तेजोलेश्या - तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में होने वाले वे परिणाम जिनसे नम्रता आती है, धर्मरुचि दृढ़ होती है, दूसरे का हित करने की इच्छा होती है इत्यादि परिणाम तेजो लेश्या है।
  - १ तैजस कार्मण - गृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का पूर्व गृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह तैजस कार्मण बंधान है।
  - १ तैजस-तैजस - पूर्व गृहीत तैजस पुद्गलों का वर्तमान में

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/133

गृह्यमाण अपने ही तैजस पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है, वह तैजस-तैजस बंधान है।

- १ तैजस शरीर - तैजस शरीर प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उस रूप में परिणमित करने वाला तैजस शरीर है।
- १ तैजस शरीर नाम कर्म - जिसके उदय से जीव तैजस शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके तैजस शरीर रूप से परिणामाता है और परिणामा करके जीव प्रदेशों के साथ परस्पर प्रवेश रूप से सम्बन्धा करता है वह तैजस शरीर नाम कर्म है।
- १ तैजस संघातन नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो उसे तैजस संघातन नाम कर्म कहते हैं।
- १ तृण स्पर्श परीषह - घास या तृण का तीक्ष्ण या कठोर स्पर्श का अनुभव होना तृण स्पर्श परीषह है।
- १ त्रस नाम कर्म - जो उद्वेग को प्राप्त होते हैं और उष्णता आदि से संतप्त होकर एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं ऐसे दीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। इस प्रकार की विपाक वेधा कर्म प्रकृति भी त्रस नाम कर्म कहलाती है।
- १ दशमशक परीषह - डांस मच्छर आदि क्षुद्र जन्तुओं के उपद्रव से खेदित न होते हुए उन्हें मारने का विचार न करना, समभाव पूर्वक सहन करना दशमशक परीषह है।
- १ दर्शन - वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाला बोधा दर्शन है।
- १ दर्शन परीषह - अपने धर्म क्रिया का इहलौकिक परलौकिक नलन मिलने पर अथवा क्रियावादियों की मान्यता समझ में न आने पर देव, गुरु, या धर्म (सि)ंत आदि पर से आस्था विचलित न

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/134

- होना, उसे अविचलित रखना दर्शन परीषह है।
- १ दर्शनावरण कर्म - जिसके द्वारा दर्शन आवृत्त किया जाये वह दर्शनावरण कर्म है।
- १ दानान्तराय कर्म - जिसके उदय से दान योग्य सामग्री होने पर, गुणवान पात्र के उपस्थित होने पर और उसके लिए दिया गया दान महान् ग्ल वाला होता है ऐसा जानता हुआ भी व्यक्ति दान देने के लिए उत्साहित नहीं होता, वह दानान्तराय कर्म है।
- १ दुर्भग नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव शत्रुता या वैर भाव करें, उसे दुर्भग नाम कर्म कहते हैं।
- १ दुरभिगंधा नाम कर्म - जिस कर्म के प्राणियों के शरीर में दुरभि- गंध उत्पन्न होती है, वह दुरभिगंधा नाम कर्म है, वह दुः स्वर नाम कर्म है।
- १ दुः स्वर नाम कर्म - जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोताओं को अप्रीति का कारण होता है, वह दुःस्वर नाम कर्म है।
- १ देव - देव गति नाम कर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप, समुद्र आदि अनेक स्थानों पर इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्य वस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा अपने शरीर की सहजिक कांति से जो दीप्तिमान रहते हैं, वे देव कहलाते हैं।
- १ देव गति नाम कर्म - जिसके उदय से जीव देव कहा जाये वह देव गति नाम कर्म है।
- १ देवायु - जिस कर्म के उदय से जीव को देव गति का जीवन बिताना पड़े वह देवायु है।
- १ देशघाती प्रकृति -अपने घातने योग्य गुण का आंशिक रूप से घात करने वाली प्रकृति देशघाती प्रकृति है।
- १ देशविरत - सर्व असंयम भाव को छोड़ने में

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/135

- असमर्थ जो व्यक्ति हिंसादि पापों के एक देश से विरत होता है, उसे देश विरत कहते हैं।
- बंधन नाम कर्म
- देशविरत गुण स्थान - देशविरति जीव जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय न होने से देश-अंश से पाप से निवृत्त हुए हैं उनकी अवस्था विशेष देशविरति गुणस्थान हैं।
- बंधन नाम कर्म
- धार्मध्यान - आज्ञा विचयादि रूप धार्म चिंतन, धर्म विचारों में तल्लीनता धार्म ध्यान है।
- नपुंसक वेद - जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा हो वह नपुंसक वेद है।
- नाम कर्म - जो गति, जाति, आदि पर्यायों का अनुभव कराने के प्रति जीव को नमावे अर्थात् अनुकूल करे उसे नाम कर्म कहते हैं।
- नाराच संहनन - जहां दो हड्डियों में केवल मर्कट बंधा ही होता है, वह नाराच नामक तीसरा संहनन है।
- निर्जरा - आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह मिले हुए पुद्गलों का क्षय होना निर्जरा है।
- निद्रा - शयन की जिस अवस्था में चैतन्य अविस्पष्ट रूप को प्राप्त हो, उसे निद्रा कहते हैं। इस निद्रा वाले जीवों को चुटकी बजाने मात्र से जगाया जाता है।
- निद्रा-निद्रा - निद्रा से भी अधिक गहरी निद्रा को निद्रा-निद्रा कहते हैं। इस निद्रा वाला जीव बहुत प्रयत्नों के बाद प्रबोधा को प्राप्त होता है।
- निर्माण नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में अंगों और प्रत्यंगों की अपने-अपने नियत स्थान पर रचना होती है, वह सूत्रधार के समान निर्माण नाम कर्म है।
- निषेक - विवक्षित कर्म की स्थिति में से अबाधाकाल को घटा देने पर अनुभव करने के लिए प्रति

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/136

समय हीन-हीनतर क्रम से कर्म दलिकों की जो रचना विशेष होती है, उसे निषेक कहते हैं।

- १ नीच गोत्र नाम कर्म - जिसके उदय से ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न पुरुष भी निंदा को पाता है और हीन जाति कुलादिक में उत्पन्न होता है, वह नीच गोत्र कर्म है।
- १ नीललेश्या - अशोक वृक्ष के समान नीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होना कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल, कपट आदि होने लगे वह नील लेश्या है।
- १ नीलवर्ण नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में नीलवर्ण उत्पन्न हो वह नीलवर्ण नाम कर्म है।
- १ नो कषाय - जो कषायों के साथ सहचारी रूप से सहवर्ती रूप से रहे वह नो कषाय है।
- १ न्यग्रोधा परिमंडल - नाभि से ऊपर सम्पूर्ण प्रमाण वाले और नाभि से नीचे उससे विपरीत प्रमाण वाले आकार को न्यग्रोधा परिमंडल संस्थान कहते हैं। न्यग्रोधा वटवृक्ष का नाम है। जैसे वह तने से ऊपर विशाल और नीचे हीन प्रमाण वाला होता है उसके समान जो शरीर नाभि से नीचे हीन अंग वाला और नाभि से ऊपर विशाल अंगवाला होता है, उसे न्यग्रोधा परिमंडल संस्थान जानना चाहिए।
- १ पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म- जिस कर्म के उदय से जीव को पांचों इन्द्रियां प्राप्त हो वह पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म है।
- १ पद्मलेश्या - हल्दी के समान पीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना, जिससे काषायिक वृत्ति कली अंशों में कम हो, चित्त प्रशांत रहता हो, आत्म संयम और



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/137

जितेन्द्रियता की वृत्ति आती हो वह पद्म  
लेश्या है।

- १ पराघात नाम कर्म - जिसके उदय से जीव ऐसा ओजस्वी हो कि जिसके दर्शन से अथवा वचन सौष्ठवता से बड़ी सभा में जाने पर सभासदों को त्रास उत्पन्न कर दे और प्रतिवादी की प्रतिमा का घात करे, उसे पराघात नाम कर्म कहते हैं।
- १ पर्याप्त नाम कर्म - जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, वह पर्याप्त नाम कर्म है।
- १ पल्योपम - काल की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसको पल्योपम कहते हैं। एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाता है, उसे पल्योपम कहते हैं।
- १ पाप - जिसके उदय से दुःख की प्राप्ति हो, आत्मा शुभ कार्यों से पृथक रहे वह पाप है।
- १ पाप प्रकृति - जिसका नल अशुभ होता है, वह पाप प्रकृति है।
- १ पारिणामिक भाव - जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है अथवा कर्मों के उदय उपशम क्षय क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले द्रव्य की स्वाभाविक अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।
- १ पिपासा परीषह - अत्यन्त प्यास लगी हो, कंठ सूख रहे हों त्रि भी सचित्त भी जल नहीं पीकर समभाव पूर्वक प्यास सहन करना पिपासा परीषह है।
- १ पुण्यकर्म - जो कर्म सुख का वेदन कराता है, वह

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/138

पुण्य कर्म है।

- १ पुद्गल परावर्त - ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं द्वौदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस शरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, कार्मण, वर्गणाऋ में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक आदि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गल परावर्त है।
- १ पुरुष वेद - जिसके उदय से पुरुष की स्त्री रमण में अभिलाषा हो, वह पुरुष वेद है।
- १ प्रकृति स्थान - दो तीन आदि प्रकृतियों के समुदाय को प्रकृति स्थान कहते हैं।
- १ प्रचला - जिस निन्द्रा दशा में बैठा या खड़ा हुआ जीव झुमने लगता है उसे प्रचला कहते हैं।
- १ प्रचला-प्रचला - प्रचला से भी अतिशायिनी प्रचला को प्रचला-प्रचला कहते हैं। यह निद्रा गमनादि करते हुए भी जीव के उदय में आ जाती है। इसलिए इसे प्रचला से भी अधिका अतिशायिनी वाला कहा है।
- १ प्रज्ञा - विशिष्ट बु) होने पर गर्व न करना तथा वैसी नहीं होने पर खेद न करना प्रज्ञा परीषह है।
- १ प्रतर - धानीकृत लोक की एक प्रदेश प्रमाण मोटी और सात राजू लंबी तथा सात राजू चौड़ी परत को प्रतर कहते हैं।
- १ प्रथम स्थिति - अन्तरकरण से नीचे की स्थिति को प्रथम स्थिति और ऊपर की स्थिति को द्वितीय स्थिति कहते हैं।
- १ <sup>संस्थान नाम कर्म</sup> प्रत्याख्यानानावरण कषाय - सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान द्यत्याग, संयमऋ जिसके द्वारा आवृत्त किया जाये, वे प्रत्याख्यानानावरण कषाय हैं।
- १ प्रत्येक नाम कर्म - जिसके उदय से प्रत्येक जीव का

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/139

भिन्न-भिन्न शरीर उत्पन्न होता है, वह प्रत्येक नाम कर्म है।

- १ प्रदेश बंधा - जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धा का सम्बन्धा होना प्रदेश बंधा है।
- १ प्रदेशोदय - बंधो हुए कर्मों का अन्य रूप से अनुभव होना अर्थात् जिन कर्मों के दलिक बांधो हैं उनका रस दूसरे भोगे जाने वाले सजातीय प्रकृतियों के निषेकों के साथ भोगा जाये, ब) प्रकृति स्वयं अपना विपाक न बता सके उसे प्रदेशोदय कहते हैं।
- १ प्रमत्त संयत गुण स्थान - प्रमत्त संयत की अवस्था विशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान है।
- १ प्रमाद - आत्म विस्मरण होना, कुशल कर्मों में आदर न रखना, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना प्रमाद है।
- १ बंधा - मिथ्यात्वादि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई, डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्म योग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर, अथवा अग्नि और लोहपिंड की भांति एक दूसरे में अनुप्रवेश- अभेदात्मक एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्धा होने को बंधा कहते हैं। अथवा आत्मा और कर्म परमाणुओं के सम्बन्धा विशेष को बंधा कहते हैं।
- १ बंधा विच्छेद - आगे किसी भी गुणस्थान में उस कर्म का बंधा न होना बंधा-विच्छेद है।
- १ बंधा स्थान - एक जीव के एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बंधा एक साथ द्वयुगपतः हो उनका समुदाय बंधा स्थान है।
- १ बंधा हेतु - मिथ्यात्वादि जिन वैभाविक परिणामों

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/140

द्विकर्मोदय जन्य आत्मा के परिणाम कोपादित्रु  
से कर्म योग्य पुद्गल कर्म रूप परिणत हो  
जाते हैं वे बंधा हेतु कहलाते हैं।

- १ बंधान नाम कर्म - जिसके द्वारा बांधा जाये, उसे बंधान कहते हैं।  
अतः जिस कर्म के उदय से जैसे- लाख के  
सम्बन्धा से दो काष्ठों का सम्बन्धा हो जाता  
है वैसे ही औदारिक आदि शरीरों के पूर्व  
ग्रहीत और गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर  
एकत्व होता है वह बंधान नाम कर्म है।
- १ बाल तपस्वी - आत्म स्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक  
कायाक्लेशादि तप करने वाला बाल तपस्वी  
है।
- १ भय मोहनीय - जिसके उदय से सनिमित्त या अनिमित्त अपने  
संकल्प से जीव डरता है, वह भय मोहनीय  
है।
- १ भव्य - मोक्ष गमन की योग्यता वाला जीव भव्य है।
- १ भाव - जीव और अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव  
रूप से परिणमन होना भाव है।
- १ भाव प्राण - ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण  
भाव प्राण है।
- १ भाव लेश्या - मोह कर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम  
से होने वाली जीव प्रदेशों में चंचलता को  
भाव लेश्या कहते हैं।
- १ भोगान्तराय कर्म - जिसके उदय से विशिष्ट आहारादि की प्राप्ति  
होने पर भी और प्रत्याख्यानादि के परिणाम  
नहीं होने पर भी कृपणतावश भोगने के लिए  
मनुष्य उत्साहित न हो सके, उसे भोगान्तराय  
कर्म कहते हैं।
- १ मति ज्ञान - मन एवं इन्द्रियों की सहायता से होने  
वाले पदार्थ के ज्ञान को मति ज्ञान कहते हैं।
- १ मति अज्ञान - मिथ्या दर्शन के उदय से होने वाला विपरीत

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/141

मति उपयोग रूप ज्ञान मतिअज्ञान है।

- १ मति ज्ञानावरणीय कर्म - मति ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म मति ज्ञानावरणीय कर्म है।
- १ मधुर रस नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में मधुर रस उत्पन्न होता है, वह मधुर रस नाम कर्म है।
  - विचार करने का साधन मन है।
- १ मन - मन: पर्याय ज्ञान को आच्छादित करने वाला मन:पर्याय ज्ञानावरण कर्म है।
- १ मनुष्य - जो मन के द्वारा नित्य ही देय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, धर्म-अधर्म आदि का विचार करते हैं, कर्म करने में निपुण हैं, उत्कृष्ट मन के धारक हैं विवेकशील होने से न्यायनीति पूर्वक आचरण करने वाले हैं, वे मनुष्य हैं।
- १ मनुष्य गति नाम कर्म - जिसके उदय से जीव मनुष्यत्व पर्याय का अनुभव करे वह मनुष्य गति नाम कर्म है।
  - जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य गति का जीवन बिताना पड़े वह मनुष्यायु है।
- १ मनुष्यायु - जीव का वह व्यापार जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए मन प्रायोग्य वर्गणा की सहायता से होता है अथवा काययोग के द्वारा मन प्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग से मन रूप परिणत हुए वस्तु विचारात्मक द्रव्य को मन कहते हैं और रस मन के सहचारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते हैं। अथवा जिस योग का विषय मन है अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्य मन के अवलम्बन से जीव का जो संकोच विकोच होता है वह मनोयोग है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/142

- १ भान - गर्व, अभिमान, झूठे आत्म प्रदर्शन को भान कहते हैं।
- १ माया - कपट भाव अर्थात् विचार और प्रवृत्ति में एक रूपता का अभाव माया है।
- १ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान - मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीव की दृष्टि (द्वयश्र) प्रतिपत्तिऋ मिथ्या हो जाना मिथ्या दृष्टि है और मिथ्या दृष्टि जीव के स्वरूप विशेष को मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।
- १ मिथ्यात्व - जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्वों पर जीव का श्र)ान नहीं होता, वह मिथ्यात्व है।
- १ मिश्र गुणस्थान - मिथ्यात्व के अर्धा शु) पुद्गलों का उदय होने से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् , कुछ मिथ्या अर्थात् मिश्र हो जाती है तब वह जीव मिश्र दृष्टि कहलाता है। उसके स्वरूप विशेष को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।
- १ मिश्र मनोयोग - किसी अंश में यथार्थ और किसी अंश में अयथार्थ ऐसा चिन्तन जिस मनोयोग के द्वारा हो उसे मिश्र मनोयोग कहते हैं।
- १ मिश्र मोहनीय - जिसके उदय से जीव जिनप्रणीत तत्त्वों पर सम्यक् प्रकार श्र)ान नहीं करता और न ही निन्दा करता है अर्थात् वीतराग एवं सरागी एवं उसके कथन को समान रूप से ग्राह्य मानता है, वह सम्यग् मिथ्यात्व कर्म है।
- १ मिश्र सम्यक्त्व - सम्यग् मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से इन होने वाला जीव का परिणाम मिश्र सम्यक्त्व है।
- १ मुक्त जीव - सर्व कर्म क्षय रहित जो अपने ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों से मुक्त होकर आत्म स्वरूप में अवस्थित है, वे मुक्त जीव

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/143

कहलाते हैं।

- १ मृदु स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में मृदुता उत्पन्न होती है वह मृदु स्पर्श नाम कर्म है।
- १ मोक्ष - सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।
- १ मोहनीय कर्म - जो आत्मा को मोहित कर दे अर्थात् सत् असत् के विवेक से रहित कर दे, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं।
- १ यथाख्यात संयम - समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव बताया है उस अवस्था रूप वीतराग संयम, यथाख्यात संयम है।
- १ यथाप्रवृत्तकरण - जिस परिणाम शु) के कारण जीव आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था द्धस्थितिऋ बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।
- १ यशःकीर्ति - तप, शौर्य, त्यागादि के द्वारा उपार्जन किये गये यश से जिसका कीर्तन किया जाये, उसे यशः कीर्ति कहते हैं। अथवा सामान्य रूप से ख्याति को यश और गुणों के कीर्तन रूप प्रशंसा को कीर्ति कहते हैं अथवा एक दिशा में नैलने वाली प्रसि) को कीर्ति कहते हैं एवं सर्व दिशा में नैलने वाली ख्याति को यश कहते हैं।
- १ यशःकीर्ति नाम कर्म - वे यश और कीर्ति जिस कर्म के उदय से होते हैं, वह यशः कीर्ति नाम कर्म है।
- १ याचना परीषह - संयम निर्वाह के लिए याचक वृत्ति स्वीकार करना याचना परीषह है।
- १ योग - मन, वचन, काय के कर्म व्यापार को अथवा पुद्गल-विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/144

मन, वचन, काया से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने में कारण भूत शक्ति को योग कहा जाता है।

- १ रति मोहनीय - जिसके उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं में प्रीति हो, वह रति मोहनीय है।
- १ रस घात - बंधो हुए ज्ञानावरणादि कर्मों की ऋल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तना करण के द्वारा मन्द कर देना रस घात है।
- १ रस नाम कर्म - जिसके उदय से तिक्तादि रस की उत्पत्ति होती है वह रस नाम कर्म है।
- १ रस बंधा - जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में ऋल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना रस बंधा है।
- १ रूक्ष स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में रूक्षता पैदा होती है वह रूक्ष स्पर्श नाम कर्म है।
- १ रोग - असाध्य रोग होने पर व्याकुलता न लाते हुए समभाव पूर्वक सहन करना रोग परीषह है।
- १ रौद्र ध्यान - जो अत्यन्त दीनता से अश्रु विमोचन करता है, चिन्तन करता है वह रौद्र ध्यान है।
- १ षभनाराचसंहनन नामकर्म - वज्र;षभ नाराच संहनन में से कीलिका रहित संहनन षभ नाराच संहनन है।
- १ लघु स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में लघुता उत्पन्न हो वह लघु स्पर्श नाम कर्म है।
- १ लब्ध्वा - ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।
- १ लाभान्तराय कर्म - जिसके उदय से दाता के घर में विद्यमान भी देय वस्तु को मांगने वाला गुणवान् पुरुष भी उसे प्राप्त न कर सके, वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है।
- १ लेश्या - जीव के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा आत्मा कर्मों



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/145

से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरजित योग प्रवृत्ति लेश्या है।

- १ लोभ - ममता रूप परिणामों को लोभ कहते हैं।
- १ लोहित नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में लोहित वर्ण उत्पन्न हो वह लोहित वर्ण नाम कर्म है।
- १ वचन योग - भाषा परिणामता रूप से प्राप्त हुए पुद्गल को वचन कहते हैं और उस सहकारी कारण भूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचन योग कहते हैं।
- १ वज्र;षभनाराचसंहनन - जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष में वज्र-कीली, षभ-वेष्टन पटी और नाराच- दोनों ओर मर्कट बंधा हो अर्थात् दोनों ओर से मर्कट बंधा से बंधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो और उन तीन हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कीली। उसे वज्र;षभनाराच संहनन कर्म कहते हैं।
- १ वधा - कोई व्यक्ति मारे पीटे यहां तक कि वधा भी कर डाले उसे समभाव से सहना वधा परीषह है।
- १ वामन संस्थान नाम कर्म - जिस शरीर में वक्ष स्थल, उदर आदि तो प्रमाण लक्षण से युक्त हों, किन्तु हाथ पैरादि हीनता युक्त हों, वह वामन संस्थान है।
- १ विधयात संक्रम - मन्द विशु(ि) वाले जीव की स्थिति अनुभाग के घटाने रूप भूतकालीन स्थिति कंडक और अनुभाग कंडक तथा गुण श्रेणि आदि परिणामों में प्रवृत्ति होना विधयात संक्रम है।  
जिन प्रकृतियों का गुण प्रत्यय और भव प्रत्यय से बंधा नहीं होता और उनमें विधयात संक्रमण की प्रवृत्ति होती है और यह प्रायः यथा प्रवृत्त संक्रम के पश्चात् होता है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/146

- १ **विपाक** - प्रकृति की विशिष्ट अथवा विविधा प्रकार के ऋल देने की शक्ति को और ऋल देने के अभिमुख होने को विपाक कहते हैं।
- १ **विभंग ज्ञान** - मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों के विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं।
- १ **विसंयोजना** - प्रकृति के क्षय होने पर भी पुनः बंधा की संभावना बनी रहे वह विसंयोजना है।
- १ **विहायोगति नाम कर्म** - आकाश के द्वारा होने वाली गति विहायोगति कहलाती है।
- १ **वीर्यान्तराय कर्म** - जिसके उदय से शरीर के निरोग होने पर भी और यौवन अवस्था होने पर भी व्यक्ति अल्प प्राण वाला होता है, वह वीर्यान्तराय कर्म कहलाता है।
- १ **वेद** - जिसके द्वारा इन्द्रिय जन्य संयोग जन्य सुख का वेदन किया जाये, अथवा मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं अथवा वेद मोहनीय कर्मों के उदय, उदीरणा से होने वाला जीव के परिणामों का सम्मोह जिसके गुण दोष का विवेक नहीं रहता, वेद है।
- १ **वेदनीय कर्म** - सुख दुःखादि रूप से जो वेदन किया जाये वह वेदनीय कर्म है।
- १ **वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म** - जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव निर्मित होते हैं, वह वैक्रिय अंगोपांग नाम कर्म है।
- १ **वैक्रिय काय योग** - वैक्रिय शरीर के द्वारा होने वाले वीर्य शक्ति के व्यापार को वैक्रिय काया योग कहते हैं।
- १ **वैक्रिय कार्मण** - पूर्व गृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्व गृहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है, वह वैक्रिय कार्मण

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/147

नाम कर्म है।

- १ वैक्रिय तैजस कार्मण - पूर्व गृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्व गृहीत और गृह्य माण तैजस-कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है वह वैक्रिय तैजस कार्मण बंधान है।
- १ वैक्रिय-तैजस - पूर्व गृहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्व गृहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों के साथ जो सम्बन्धा होता है, वह वैक्रिय तैजस बंधान नाम कर्म है।
- १ वैक्रिय मिश्र काया योग - वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक इन दो शरीरों को मिश्रत्व के द्वारा होने वाला वीर्य शक्ति का व्यापार वैक्रिय मिश्र काया योग है।
- १ वैक्रिय वैक्रिय - पूर्व गृहीत वैक्रिय पुद्गलों का अपने ही गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह वैक्रिय-वैक्रिय बंधान नाम कर्म है।
- १ वैक्रिय शरीर - जिस शरीर के द्वारा छोटे-बड़े, एक-अनेक, विविधा-विचित्र रूप बनाने की शक्ति प्राप्त हो तथा जो शरीर वैक्रिय शरीर वर्गणाओं से निष्पन्न हो उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं।
- १ वैक्रिय शरीर नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रिय शरीर प्राप्त हो वह वैक्रिय शरीर नाम कर्म है।
- १ वैक्रिय संघातन नाम कर्म- जिसके द्वारा वैक्रिय शरीर के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते हैं वह वैक्रिय संघातन नाम कर्म है।
- १ श"या कर्म - जैसी भी श"या मिल जाये वहां समभाव पूर्वक सोना श"या परीषह है।
- १ शरीर नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव को औदारिक वैक्रिय आदि शरीरों की प्राप्ति हो वह शरीर

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/148

नाम कर्म है।

- १ शीत - अत्यन्त ठंड का मौसम होने पर उसके निवारणार्थ किसी भी सचित्त या अकल्प्य वस्तु का सेवन न कर शीत को समभाव से सहन करना शीत परीषह है।
- १ शीत स्पर्श नाम कर्म - जिसके उदय से प्राणियों के शरीर में शीत स्पर्श उत्पन्न हो वह शीत स्पर्श नाम कर्म है।
- १ शुक्ल लेश्या - शंख के समान श्वेत वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्धा से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना जिनसे कषाय उपशान्त रहती है, वीतराग भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है, वह शुक्ल लेश्या है।
- १ शुभ नाम कर्म - जिसके उदय से नामि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभ नाम कर्म है।
- १ शुभ विहायोगति नाम कर्म- जिसके उदय से प्रशस्त चाल होती है, वह शुभ विहायोगति नाम कर्म है।
- १ शुक्ल ध्यान - जो कर्ममल को शु) करता है अथवा जो शोक को नष्ट करता है वह शुक्ल ध्यान है।
- १ श्रुत ज्ञान - मति ज्ञान के अनन्तर होने वाला शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिसमें हो, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।
- १ श्रुत अज्ञान - मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुत ज्ञान, श्रुत अज्ञान है।
- १ श्रुत ज्ञानावरण कर्म - श्रुतज्ञान को आच्छादित करने वाले कर्म को श्रुत ज्ञानावरण कहते हैं।
- १ श्रेणि - सात राजू लम्बी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति श्रेणि है।
- १ शैलेशी अवस्था - मेरू पर्वत के समान निश्चल अथवा सर्व संवर रूप योग की अवस्था शैलेशी अवस्था है।
- १ शैलेशी करण - वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/149

- असंख्यात गुण श्रेणि से और आयु कर्म की
- १ शोक मोहनीय - जिसके उदय से जीव प्रिय वस्तु के वियोगादि होने पर आक्रन्दन करता है, भूतल पर लौटपोट करता है, दीर्घ निःश्वास छोड़ता है, वह शोक मोहनीय है।
- १ संक्रमण - एक कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप में बदल जाना अथवा वीर्य विशेष से कर्म का अपनी ही दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना संक्रमण है।
- १ संघात नाम कर्म - जिसके द्वारा औदारिक आदि शरीरों के पुद्गल संघात किये जाते हैं, एक पिंड रूप बना दिये जाते हैं वह संघातन नाम कर्म है।
- १ संज्वलन कषाय - परीषहों तथा उपसर्गों के आने पर जो चारित्र धारक साधु को भी संज्वलन अर्थात् कुछ जलाती रहती है, वीतराग दशा में बाधा डालती है, वे संज्वलन कषाय कहलाती हैं।
- बंधन नाम कर्म
- १ संस्थान नाम कर्म - आकार विशेष को संस्थान नाम कर्म कहते हैं।
- १ संहनन नाम कर्म - हड्डियों की रचना विशेष को संहनन नाम कर्म कहते हैं।
- १ सत्कार पुरस्कार परीषह - सत्कार मिलने पर प्रसन्न तथा न मिलने पर नाराज न होना सत्कार पुरस्कार परीषह है।
- १ सत्ता बंधन नाम कर्म - बंधा समय या संक्रमण समय से लेकर जब तक उन कर्म परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप से संक्रमण नहीं होता या उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक उनका आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता है।
- १ सत्ता स्थान - जिन कर्म प्रकृतियों की एक साथ सत्ता पायी

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/150

जाये उनका समुदाय सत्ता स्थान कहलाता है।

- १ सत्य मनोयोग  
बंधन नाम कर्म - जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार किया जाता है अथवा सद्भाव पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्य मन और उसके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं।
- १ सत्य मृषा मनोयोग - सत्य और मृषा से मिश्रित मनोयोग सत्यमृषा मनोयोग है।
- १ सत्य वचन योग - जिस वचन के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन किया जाता है वह सत्य वचन योग है। सत्य वचन वर्गणा के निमित्त से होने वाला योग सत्य वचन योग है।
- १ समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म- जिसके उदय से समान चतुष्कोण युक्त संस्थान द्व्यआकारऋ होता है, वह समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म है।
- १ समय - काल का अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंश समय है।
- १ समुद्घात - मूल शरीर को न छोड़कर निमित्तवशात् उत्तर देह के साथ-साथ जीव प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं।
- १ सयोगी केवली - जिन्होंने चार घाति कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान और दर्शन प्राप्त कर लिया है, जो पदार्थ को जानने देखने में इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा नहीं रखते और योग-आत्म वीर्य, शक्ति से सहित हैं वे सयोगी केवली हैं।
- १ सयोगी केवली गुणस्थान - सयोगी केवली की अवस्था विशेष सयोगी केवली गुणस्थान है।
- १ सम्यक्त्व मोहनीय - जिसके उदय से जिनप्रणीत तत्त्व का जीव सम्यक् श्र)ान करता है, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/151

- १ **सर्व संक्रम** - गुण संक्रमण के पश्चात शेष रहे हुए कर्म दलिकों के अंतिम समय में जो पर-प्रकृतियों में संक्रम किया जाता है, वह सर्व संक्रम कहलाता है।
- १ **सागरोपम** - दस कोड़ा कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।
- १ **साता वेदनीय कर्म** - जिसके उदय से आरोग्य विषयोपभोग आदि से उत्पन्न आह्लादादि रूप साता का वेदन हो, वह साता वेदनीय है।
- १ **सादि अनन्त** - जो आदि सहित होकर भी अनन्त हो वह सादि अनन्त है।
- १ **सादि सान्त** - जो बंधा या उदय बीच में रुककर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तर पुनः व्युच्छिन्न हो जाता है वह सादि सान्त है।
- १ **सादि संस्थान नाम कर्म** - जिस संस्थान का अधोभाग परिपूर्ण हो किन्तु ऊपरि भाग परिपूर्ण न हो वह सादि संस्थान नाम कर्म है।
- १ **साधारण नाम कर्म** - जिसके उदय से अनन्त जीवों का एक शरीर होता है वह साधारण नाम कर्म है।
- १ **सामायिक** - राग द्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस संयम से समभाव की प्राप्ति हो उसे सामायिक कहते हैं अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहते हैं।
- १ **सासादन सम्यक्त्व** - उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता तब तक के उसके परिणाम विशेष को सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।
- १ **सासादन सम्यक् दृष्टि** - जो औपशमिक सम्यक दृष्टि जीव अनन्ता-

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/152

नुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख हो रहा है, तब तक वे उसके परिणाम विशेष को सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

- १ सासादन गुणस्थान - सासादन सम्यक् दृष्टि जीव की अवस्था विशेष सासादन गुणस्थान है।
- १ स्तिबुक संक्रम - अनुदीर्ण प्रकृति के दलिकों को समान स्थिति वाली उदय प्राप्त प्रकृति में संक्रमित करके जो अनुभव किया जाता है उसे स्तिबुक संक्रम कहते हैं। जैसे उदय प्राप्त मनुष्य गति में अन्य अनुदय प्राप्त गतियों के कर्म दलिकों को संक्रान्त करके भोग लेना अथवा उदयमान एकेन्द्रिय जाति के अनुदीर्ण शेष जातियों के कर्म दलिकों का संक्रमण होना स्तिबुक संक्रम है।
- १ स्पर्धाक - यथोक्त स्वरूप वाली वर्गणाओं के समुदाय को स्पर्धाक कहते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर वृत्ति के द्वारा जिसमें स्पर्धा के साथ वर्गणाएं होती हैं वह स्पर्धाक कहलाता है।
- १ स्त्री परिषह - पुरुष साधाक का अपनी संयमी साधाना में स्त्री का आकर्षण अथवा मोह का प्रसंग उपस्थित होने पर न ललचाना, समभाव से मन को मोड़ना स्त्री परिषह है। इससे विपरीत स्त्री साधाक का समझना चाहिए।

### ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट ब्रह्मसूत्र

- अगुरुलघु चतुष्क - अगुरु लघु नाम, उपघात, पराघात नाम उच्छ्वास नाम।
- अनन्तानुबंधी चतुष्क - अनन्तानुबंधी क्रोधा, मान, माया, लोभा।



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/153

अंगोपांग त्रिक	- औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।
अन्तराय पंचक	- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।
अन्तिम संहननत्रिक	- अर्धानाराच, कीलिका, सेवार्तसंहनन।
अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क	- अप्रत्याख्यानावरण क्रोधा, मान, माया, लोभा।
अस्थिर षट्क	- अस्थिर नाम, अशुभ नाम, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय, नाम, अयशः कीर्ति नाम।
आतप द्विक	- आतप नाम, उद्योत नाम।
आहारक द्विक	- आहारक शरीर नाम, आहारक अंगोपांग नाम।
औदारिक द्विक	- औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग।
ज्ञानावरण पंचक	- मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्याय ज्ञानावरण, केवल ज्ञानावरण।
श्राति चतुष्क	- एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।
तिर्यचत्रिक	- तिर्यचत्रिक, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु।
तिर्यच द्विक	- तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी
त्रस दशक	- त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशः कीर्ति।
दर्शनावरण चतुष्क	- चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण।
दर्शन मोह त्रिक	- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय।
दुर्भग त्रिक	- दुःर्भग नाम, दुःस्वरनाम, अनोदय नाम।
देव द्विक	- देवगति, देवानुपूर्वी।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/154

दो युगल	- हास्य-रति, शोक-अरति।
नरत्रिकार बद्धमनुष्यत्रिकार	- मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायु।
नरक द्विक	- नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।
नरक द्विक	- नरक गति, नरकानुपूर्वी
निद्रा पंचक	- निद्रा, प्रचला।
निद्रा पंचक	- निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, प्रचला, त्वत्यार्त्त)।
नोकषाय नवक	- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद।
प्रत्याख्यानावरण चतुष्क	- प्रत्याख्यानावरण क्रोधा, मान, माया, लोभा।
मध्यम संस्थान चतुष्क	- न्यग्रोधा परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान।
मध्यम संहनन चतुष्क	- षभ नाराच संहनन, नाराच अर्धा नाराच, कीलिका संहनन।
वर्ण चतुष्क	- वर्णनाम, गंधा नाम, रसनाम, स्पर्श नाम।
विकल त्रिक	- द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नाम।
विहायोगति द्विक	- शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति नाम।
वैक्रिय अष्टक	- वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देव गति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरक गति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।
संज्वलन कषाय चतुष्क	- संज्वलन क्रोधा, मान, माया, लोभा।
संस्थान षट्क	- समचतुरस्र, न्यग्रोधा परिमंडल, सादि, वामन कुब्ज, हुंड संस्थान।
संहनन षट्क	- वज्रःषभ नाराच, षभनाराच, नाराच, अर्धा नाराच, कीलिका, सेवार्त्त संहनन।
सूक्ष्मत्रिक	- सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम।

स्त्यानर्िक त्रिक  
स्थावर द्विक  
हास्य षट्क

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/155

- स्त्यानर्िक, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला।
- स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम।
- हास्य, रति, अरति, शोक, भय,  
जुगुप्सा।



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/156

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/157



### सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. **अनुयोगद्वाराणि**: टीका. मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1924
2. **अपभ्रंश हिन्दी कोश**: सम्पा. डॉ. नरेशकुमार, प्रका. इण्डोविजन प्राईवेट लिमिटेड, गाजियाबाद, वर्ष 1987
3. **अभिधान राजेन्द्र कोश**: सम्पा. राजेन्द्रसूरि, प्रका. रतलाम, भाग 1-7
4. **अर्धमागधी कोश**: सम्पा. रतनचन्दजी म.सा., प्रका. अमर पब्लिकेशन, वाराणसी वर्ष 1988
5. **आचारांगसूत्रम**: टीका. आचार्य शीलांक, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1916
6. **आयारंगसुत्त**: सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, वर्ष 1988
7. **आवश्यक निर्युक्तेरवचूर्णि**: निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामि, प्रका. मोतीचंद मनगभाई मैनेजिंग ट्रस्टी, भावनगर, वर्ष 1964
8. **आवश्यकसूत्रम**: टीकाकार : श्री घासीलालजी म.सा., प्रका. श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, वर्ष 1958 (द्वि.सं)
9. **उत्तराध्ययनसूत्रम**: (आचार्य नेमिचन्द्र विरचित सुखबोधवृत्ति सहित), प्रका. दिव्यदर्शन ट्रस्ट, गुलालवाडी, बम्बई
10. **औपपातिकसूत्रम** : टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1916
11. **कर्मग्रंथ व्याख्या** : श्री मिश्रीलालजी म.सा., भाग 2, प्रका. मरूधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर-ब्यावर
12. **कर्मग्रंथ: व्याख्या** : पं. सुखलाल जी संघवी, भाग 4, प्रका. वर्द्धमान स्थानकवासी जैन धार्मिक शिक्षा समिति, बडौत
13. **कर्मग्रंथ: व्याख्या** : श्री मिश्रीलाल जी म.सा., भाग 5, प्रका. मरूधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर- ब्यावर, वर्ष 1976
14. **कर्मप्रकृति** : (शिवशर्मसूरि विरचित) व्याख्या: आचार्य नानेश, प्रका. गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर, वर्ष 1982
15. **कर्मप्रकृति संग्रहणी** : (शिवशर्मसूरि विरचित) चूर्णिकार- आचार्य चिरन्तन, प्रका. भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाड़ा, वर्ष 1971

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/159

16. **गोम्मटसारः (जीवकाण्ड)** सम्पा. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती , प्रका. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, पं. सं. वर्ष 1977
17. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशः** सम्पा. जिनेन्द्रवर्णी, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, भाग 1-4, वर्ष 1985-86
18. **तत्त्वार्थ सूत्रः** (उमास्वाति), विवेचकः पं. सुखलालजी संघवी, प्रका. जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, द्वि.सं. वर्ष 1952
19. **दशवैकालिकसूत्रमः** टीका. श्री घासीलाल जी म.सा., प्रका. अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, द्वि.सं. वर्ष 1960
20. **दशवैकालिकसूत्रमः** टीका. हरिभद्रसूरि, प्रका. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, वर्ष 1918
21. **नंदिसुतं:** सम्पा. मुनि पुण्यविजयजी, प्रका. श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, वर्ष 1968
22. **पंचसंग्रहः** (चन्द्रमहर्षिकृत स्वोपज्ञवृत्ति सहित), प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1927
23. **पंचसंग्रहः** व्याख्या: मुनि श्री मिश्रीलालजी, प्रका. मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष 1985
24. **पं. रतनचंद जैन मुख्तार व्यक्तित्व एवं कृतित्वः** सम्पा. जवाहरलाल जैन एवं चेतन प्रकाश पाटनी, शांतिनगर, श्री महावीरजी, भाग 1, वर्ष 1981
25. **पन्नवणासूत्र के थोकडे:** (प्रथम भाग) सम्पा. पं. रोशनलाल जैन, प्रका. अ. भै. सेठिया जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, द्वि. सं. वि. सं. 2025
26. **पाड्य-सद्-महण्णवो :** सम्पा. हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ, प्रका. प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी, वर्ष 1963
27. **प्रवचन सारोद्धारः** सम्पा. नेमिचन्द्रसूरि, प्रका. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बंबई
28. **प्रश्नव्याकरणसूत्रमः** टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1919
29. **प्रज्ञापनोपांगमः** टीका. आचार्य मलयगिरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, पूर्वार्द्धम, उत्तरार्द्धम, वर्ष 1918, 1919
30. **भगवतीसूत्रमः** टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1918
31. **भगवतीसूत्रमः** टीका. आचार्य मलयगिरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1919

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/160

32. **भूषणसार** : व्याख्या: श्री श्यामाचरण त्रिपाठी, प्रका. ज्ञान प्रकाशन, बीकानेर, वर्ष 1988
33. **मूलाचार** : (वट्टकेर) सम्पा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, भाग 1-2, वर्ष 1944
34. **वियाहपण्णतिसुत्तं** : सम्पा. मुनि पुण्यविजयजी, प्रका. महावीर जैन विद्यालय, बम्बई वर्ष 1978
35. **व्यवहारसूत्रम्** : भाष्यकार: श्री घासीलाल जी म.सा., प्रका. अ. भा.श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, वर्ष 1969
36. **षड्शीतिसमुच्चय** : (हरिभद्रसूरि) सम्पा. डॉ. महेन्द्र कुमार जैन, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, वर्ष 1970।
37. **षड्शीतिप्रकाश** : (आचार्य देवेन्द्रसूरि विरचितवृत्ति सहित) प्रणेता: मुनि नन्दन विजय, प्रका. श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर (अहमदाबाद) वर्ष 1921
38. **संस्कृत हिन्दी कोष**: सम्पा. वामन शिवराम आप्टे, प्रका. मोतीचंद बनारसीदास, दिल्ली वर्ष 1984
39. **सटीकाश्चत्वारः प्राचीन कर्मग्रन्थाः** (आचार्य चतुरसेन द्वारा शोधित) प्रका. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि.सं. 1972
40. **सद्धर्ममण्डनमः** आचार्य जवाहर, प्रका. जवाहर साहित्य समिति, भीनासर (बीकानेर), द्वि.सं. वर्ष 1966
41. **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि** : प्रका. मोतीलालजी, भवानी पेट, वी. नि. सं. 2453
42. **समयसारः** (आचार्य कुन्दकुन्द) सम्पा. पं. पन्नालाल शास्त्री, प्रका. गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, द्वि.सं. वी.नि.सं. 2501
43. **समवायांगसूत्रमः** टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. सेठ माणकलाल चुन्नीलाल, सेठ कान्तिलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, द्वि.सं. वर्ष 1938
44. **सूत्रकृतांगसूत्रमः** टीका. आचार्य शीलांक, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1917
45. **स्थानांगसूत्रमः** टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. सेठ माणकलाल चुन्नीलाल सेठ कान्तिलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, द्वि.सं. वर्ष 1937
46. **स्थानांगसूत्रमः** (प्रथमोभागः) टीका. श्री घासीलालजी म.सा., प्रका. श्री अ. भा. श्वै. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, वर्ष 1978
47. **ज्ञाताधर्मकथांगमः** टीका. अभयदेवसूरि, प्रका. आगमोदय समिति, सूरत, वर्ष 1919



गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/161

नानेश वाणी क्रमांक-1

JwUñWmZ : ñde\$[ Am;a odib{fU

AmMn`© lr ZnZ{e

ã\$ne\$

lr AnIb ^maVdfu` gmW\_mJu O;Z g\$K

g\_Vm ^dZ, ]rH\$nz{a (anO.)

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/162

- ❑ नानेश वाणी - 1  
गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण
- ❑ आचार्य श्री नानेश
- ❑ प्रथम संस्करण : सितम्बर 2001, 1100 प्रतियां
- ❑ मूल्य : 30/-
- ❑ अर्थ सहयोगी : स्व. पं. जोधराजजी सुराणा परिवार, बैंगलोर
- ❑ प्रकाशक :  
श्री अ.भा.साधुमार्गी जैन संघ,  
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर
- ❑ मुद्रक :  
अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स, बीकानेर  
दूरभाष : 547073

## प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएं अपने कर्मों का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को “नानेश वाणी” पुस्तक शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया। इस निर्णय की पूर्ति हेतु विशिष्ट निधि की स्थापना की घोषणा की गई तथा देशभर में फैले श्रद्धालुओं से मुक्त हस्त अर्थ सहयोग प्रदान करने का आह्वान किया गया। सत्संकल्पों की पूर्ति में कभी बाधाएं नहीं आती। ऐसा ही इस संकल्प के साथ भी हुआ। सभी ओर से प्राप्त प्रभूत अर्थ सहयोग ने संघ को उस स्पृहणीय स्थिति में पहुंचा दिया जिसमें संकल्प पूर्ति मात्र औपचारिकता रह जाती है।

इस संदर्भ में बेंगलोरवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी के विशेष सहयोग का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी गुरुभक्ति, धर्मनिष्ठा एवं संघ समर्पणा भाव ने उन्हें प्रेरित किया कि वे समर्पित भाव से प्रयत्न करके उन्होंने ऐसा ही किया उन्हीं के सद्प्रयासों से “नानेश वाणी शृंखला” का 40

प्रकाशनाधीन पुस्तकों के लिए अर्थसहयोग की लगभग स्वीकृति कर्नाटक और तमिलनाडु से ही प्राप्त हो गई। श्री सिपानी जी की ऐसी संघनिष्ठा हेतु तथा उदार दाताओं के प्रशस्त सहयोग हेतु हम उनके आभारी हैं।

अब जबकि अपेक्षित धनराशि एकत्र हो चुकी है हम आचार्य श्री नानेश के साहित्य को चरणबद्ध रीति से प्रकाशित करने की दिशा में गतिमान हो गये हैं। हमारी योजना के अनुसार प्रथम चरण में प्रकाशित एवं प्रचारित परन्तु अनुपलब्ध, कृतियों के नवीन संस्करण प्रकाशित किये जाने हैं। द्वितीय चरण में अप्रकाशित असंपादित प्रवचनों को संकलित कर नयी कृतियों के रूप में प्रकाशित किया जावेगा।

इस क्रम में आचार्य नानेश की कृति **गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण** की यह नवीन आवृत्ति सुधी पाठकों, साधकों, स्वाध्यायियों एवं श्रद्धानिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के हाथों में अर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है। हमें विश्वास है कि यह आवृत्ति उनकी रुचि, अपेक्षाओं एवं आशाओं के अनुरूप बन पड़ी है।

यहां यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि जैन श्रमण परम्परा में साधुमार्गी जैन संघ का आत्म साधना, तपोसाधना, धर्म प्रभावना एवं साधवाचार की प्रवृत्तियों को प्रेरित करने में महत्वपूर्ण योग रहा है। क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. ने इसकी प्रतिस्थापना हेतु अहं भूमिका का निर्वहन किया था। उनके पश्चात्पूर्वी आचार्यों ने इस संघ को अनवरत ऊंचाईयां की ओर अग्रसर किया। श्री शिवलालजी म.सा. यदि निर्ग्रन्थ संस्कृति के प्रतीक थे तो श्री उदयसागरजी म.सा. ज्ञानाराधना के आदर्श। श्री चौथमलजी म.सा. श्रमणाचार व संघनिष्ठा के उच्च शिखर रूप समादृत रहे तो श्री श्रीलालजी म.सा. अनन्य योग साधक व बेजोड़ भविष्यदृष्टा बनें। उनके उत्तराधिकारी श्रीमद् जवाहराचार्य एक ऐसे क्रान्तदृष्टा थे जिन्होंने आत्मधर्म के साथ ग्राम-नगर, राष्ट्र धर्म आदि संयुक्त कर धर्म को नव आयाम प्रदान किये तो कालजयी विचार दर्शन भी प्रस्तुत किया। शांत क्रान्ति के अग्रदूत श्रीमद् गणेशाचार्य ने यदि धर्म संघ, आत्मचिंतन व श्रमण चेतना को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया तो आचार्य श्री नानेश ने आत्मलक्षी साधना की युगीन दिशाएं उन्मुक्त कीं।

चिन्तन और साधना के क्षेत्रों में नवीन कीर्तिमान स्थापित करने वाले ऐसे धर्माचार्य श्री नानेशाचार्य के साहित्य की सतत् सहज उपलब्धता जहां धार्मिक आध्यात्मिक नव जागरण की दृष्टि से भी अपरिहार्य है। एक प्रज्ञासम्पन्न साधक,

आदर्श चिंतक एवं दार्शनिक, समत्वयोगी, समीक्षण ध्यान प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक एवं आध्यात्मिक आराधक के रूप में उनका प्रदेय वर्तमान युग की अनमोल निधि है। अपने इस प्रदेय और अपनी गहन साधना द्वारा धर्माचार्य के रूप में उन्होंने वह विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया जो सम्प्रदायातीत होता है। उनका यह रूप उनके उस सम्पूर्ण प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य में प्रखरता से उद्घाटित होता है जो गाथाओं, कथाओं, प्रवचनों उपदेशों एवं उद्बोधनों के रूप में उपलब्ध है और अपनी प्रकृति के कारण जो चेतना के ऊर्ध्वारोहण चरित्र के सुसंस्कार एवं जीवन के परिष्कार में सहायक भी है।

आचार्य श्री नानेश की साहित्य साधना पर विहंगम दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि कालक्रम से परिवर्तित होते "साहित्य" के अर्थों के संदर्भ में इसमें सभी रूपों का प्रतिनिधित्व है। यह शास्त्र की भांति परम हितकारी है तो काव्य के अर्थ में सत्य, शिव, सुंदर का समन्वित रूप भी है। इसमें सन्निहित सत्य शाश्वत है, यह शिव स्वरूपी अर्थात् सर्व कल्याणकारी है और सत्य व शिव होने से सौन्दर्य-बोध भी करता है। यदि समग्र साहित्य को अंग्रेजी के 'लिटरेचर' अर्थ में लें तो यह जितना लिखित (पुस्तकाकार प्रकाशित) है उतना ही प्रवचनों के रूप में मौखिक भी है।

यह महत्वपूर्ण तथ्य व सत्य है कि आचार्य श्री नानेश साहित्यकार होने से पूर्व एक सिद्ध संत थे यद्यपि सर्वप्रथम वे मानव थे। यही कारण है कि मानव को केन्द्रस्थ रखकर उन्होंने अपने प्रवचनों में यही संदेश दिया कि मनुष्य आत्मा से परमात्मा (अप्पा सो परमप्पा) की यात्रा हेतु स्वयं को कषायों से मुक्त करें और परिधि से केन्द्र में स्थित होने के लिए बहिर्मुखी चिंतन को छोड़कर अन्तर्मुखी बनें। वस्तुतः उनका बहुआयामी चिंतन उनकी अनोखी उपलब्धि है तथा उनका साहित्य मानव मात्र के हित साधन हेतु संप्रदायातीत जीवन मूल्यों के विकास एवं संरक्षण का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

आचार्य श्री जी का साहित्य विपुल है। समाज के सम्मुख उपलब्ध प्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त ऐसा अपरिमित साहित्य भी विद्यमान है जो लिपिबद्ध प्रवचनों, फुटकर लेखों एवं भक्तजनों द्वारा संकलित/संग्रहित सामग्री के रूप में है। संघ ऐसे साहित्य को प्राप्त कर उसे यथासंभव प्रकाशित कर जन-जन के हितार्थ प्रस्तुत करने हेतु कृत संकल्प है।

आचार्य श्री नानेश के साहित्य को निश्चित वर्गों में विभाजित कर पाना कठिन है। इसमें समाविष्ट हैं प्रवचन-संकल्प, आगम-ग्रन्थों/विषयों का विवेचन, कथा साहित्य, काव्य कृतियों, सुभाषित व सुक्तियां। उनका साहित्य उनकी ज्ञान गरिमा का परिचय तो कराता ही है समाज की दृष्टि से उसकी उपयोगिता को भी रेखांकित किया जा सकता है। वस्तुतः उनका साहित्य चाहे वह किसी भी रूप/विधा में हो, वह उनको उच्च कोटि की आध्यात्मिक साधना का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एक युग-प्रवर्तक संत, धर्माचार्य, अध्यात्म योगी एवं समता दर्शन प्रणेता के जीवन के विविध आयामों तथा साधना के विभिन्न क्षेत्रों में परिचित कराने में भी वह सक्षम है। उनके इस साहित्य के विषय हैं- धर्माचरण, चरित्र परिष्करण, संस्कार-निर्माण एवं आत्मकल्याण।

उनका साहित्य प्रणयन वर्तमान जीवन की ज्वलंत समस्याओं के संदर्भ में हुआ है। उन्होंने समाजवादी और साम्यवादी चिंतन को आध्यात्मिक धरातल पर आग्रह मुक्त हो व्याख्यातित ही नहीं किया उसे व्यवहार की गरिमा से विभूषित भी किया है। उन्होंने जहां जीवन की विषमताओं/विभीषिकाओं, अधर्म के विस्तार, काषायिक प्रवृत्तियों, अभावों, अशांति, तनाव, असंतोष आदि का चित्रण किया है वहीं अपनी साधना के माध्यम से मानवता के उद्धार का मार्ग भी प्रशस्त किया है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य जीवन से जुड़ा तो है ही जीवन उन्नयन का मूलाधार भी बना है। यही उनकी साहित्य-साधना की सार्थक व महत्वपूर्ण उपलब्धि है तथा इसी में सन्निहित है उसकी कालजयिता और सार्वजनीनता।

ऐसे उपयोगी साहित्य को सर्व सुलभ बनाने का हमारा संकल्प यदि मूर्तरूप प्राप्त कर सका है तो निःसंदेह यह उन वर्तमान आचार्य श्री रामेश के आशीर्वाद का ही परिणाम है जिनकी गुरु भक्ति अनुपम व अनूठी है तथा जिन्हें जन कल्याणकारी चिंतन को जन-जन तक पहुंचाने की विशेष चिन्ता है। हमें उनसे प्रेरणा ही नहीं मिली, वह सम्पूर्ण वत्सल मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ है, जो प्रेरणा की उपलब्धि में परिवर्तित करने के लिए आवश्यक होता है। उनकी ऐसी कृपा हमारा ऐसा सौभाग्य है जिस पर सम्पूर्ण साधुमार्गी जैन संघ गर्व कर सकता है। संत शिरोमणि, आचार्य देव की ऐसी महती कृपा के लिए हम उनके प्रति विनय और श्रद्धा से नतमस्तक हैं।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/167

प्रस्तुत कृति गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण (नानेश वाणी क्र.- 1) के प्रकाशनार्थ प्रदत्त अर्थ सौजन्य के लिए उदारमना, गुरुभक्त श्रेष्ठि प्रवर श्रीमान जोधराजजी सुराणा निवासी बेंगलोर के प्रति हम धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। सद् साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उनका यह सहयोग निश्चय ही अनुकरणीय एवं वंदनीय है।

उपर्युक्त कृति में सन्निहित मूल संदेश व कृति का परिचय अग्र पृष्ठ/पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा रहा है, जो दृष्टव्य है।

हमें पूरा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ समाविष्ट विचार-दर्शन को आत्मसात कर पाठक आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकेंगे।

भवदीय

<b>राजमल चोरड़िया</b> अध्यक्ष	<b>धनराज बेताला</b> महामंत्री	<b>शांतिलाल सांड</b> संयोजक
----------------------------------	----------------------------------	--------------------------------

कमल सिपानी	अभय कुमार चोरड़िया
जयचन्दलाल सुखानी	उदय नागोरी

(सदस्य, साहित्य समिति, श्री अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर)

## अर्थ सहयोगी परिचय

### स्व. पं. जोधराजजी सुराणा- बेंगलोर

स्वनाम धन्य स्व. पं. जोधराजजी सुराणा का जन्म चित्तौड़ में संवत् 1968 में हुआ था। पिता श्री पन्नालालजी, माता श्रीमती गेंदाबाई और धर्मपत्नी श्रीमती बादाम बाई सुराणा था। भदेसर के गेलड़ा परिवार में आपकी शादी हुई थी। आपके 3 पुत्रियाँ श्रीमती विमला बाई, श्रीमती सुमित्रा बाई, श्रीमती इन्द्रा बाई और 4 पुत्र हैं। श्री विमलकुमार श्री बसन्तकुमार, श्री आनन्दकुमार और श्री संतोषकुमार सुराणा हैं।

श्री सुराणाजी की शिक्षा-दीक्षा जैन ट्रेनिंग कॉलेज बीकानेर-जयपुर में हुई थी। सन् 1927 से 1930 तक जैन संस्कृति, साहित्य, तत्त्वज्ञान, न्याय और धर्मशास्त्र का आपने गहरा अध्ययन किया था। इससे आपके मानस में चेतना जागृत हुई और मनोबल बढ़ा। क्रान्ति के अग्रदूत आचार्य जवाहर के देशप्रेम और देशभक्ति से आप बहुत प्रभावित हुए। आपकी प्रतिभा को परख कर श्री वर्धमानजी पीतलिया ने आपको पर्युषण में व्याख्यान देने के लिए 1933 में मद्रास भेजा।

पं. देवदत्तजी शर्मा जापान से लौटकर जब मद्रास आये, तब मद्रास में इनका परिचय पं. जोधराजजी से हुआ। विचार-विमर्श के पश्चात् दोनों ने मद्रास में शिक्षण संस्थाएं खोलने का दृढ़ निश्चय किया। एक जैन थे, दूसरे ब्राह्मण। दो संस्कृतियों का अपूर्व मिलन हुआ। यह मिलन दक्षिण-भारत में संस्थाएं खोलने और उन्हें फलने फूलने का स्रोत बना। श्री सुराणाजी जवान थे, कार्य करने की उनमें शक्ति, लगन, उत्साह और साहस था, दोनों में खूब जमीं।

16 वर्ष तक मद्रास में कार्य करने के बाद सेठ श्री छानमलजी मूथा की सम्मति से 29 अप्रैल 1948 को श्री सुराणाजी बेंगलोर आये। इन्होंने शिक्षा-संबंधी कार्य के लिए श्री हिन्दी शिक्षण संघ की और धर्म संबंधी कार्य के लिए श्री जैन शिक्षा समिति



की स्थापना की। सेठजी ने इन दोनों सज़नों को संस्थाओं के लिए तन-मन और धन से खूब सहयोग दिया। इन संस्थाओं से सैकड़ों छात्र लाभान्वित हुए। दक्षिण का कोई ऐसा भू-भाग नहीं होगा जहाँ आपके शिष्य न हो।

श्री सुराणाजी का सम्पूर्ण जीवन त्याग-तप-सेवा और कर्तव्य परायण रहा है। शिक्षा, अनुशासन, समाज सुधार, नारी उत्थान, सभ्यता-संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन अर्पित करने वाले, स्वाध्यायी, धीर-वीर-गंभीर मानस के ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य के धनी थे। ये महान व्यक्तित्व के गौरव-मण्डित पुरुष थे। देश के बड़े-बड़े व्यक्तियों से इनका सीधा सम्पर्क था। सभी सम्प्रदायों, आचार्यों, सन्तों और नेताओं के विश्वसनीय व्यक्ति थे। सत्य-अहिंसा और अपरिग्रह के जागरूक प्रहरी थे। अपनी आन, बान, शान और सिद्धान्तों के सेतु थे। कर्तव्य पालन और सेवा के लिए इस पराक्रमी पुरुष ने कभी हिम्मत नहीं हारी, जीवन से कभी निराश नहीं हुए। ये प्राचीन पीढ़ी और ऋषि परंपरा के कीर्ति पुरुष थे। राष्ट्र ऐसे सपूत को पाकर गौरवान्वित हुआ है।

## एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,  
एक नान्हा दीप,  
सदाहरता तिमिर जग का,  
सहज शान्त अभीत !

छोटा सा दीपक, गांव की मिट्टी की सोंधी गंध से सुवासित, सुसंस्कारों के नेह से सिंचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन में युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहुं ओर परिव्याप्त निबिड अंधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था। अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा में सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल की जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को अमंगलकारी दीपावली में परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक, 'नाना' दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय था आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारों ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसयं पड़प्पए जसो दीवो ।  
दीवसमा आयरिया दिव्वंति परं च दिव्वंति ॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई तो नहीं। प्रलय पारावार में वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात् ब्रह्म ही तो ये जिन्हें श्रद्धालुजन भक्तभाव से नमन करते हैं- 'वटस्य पत्रस्य पुटः' शयानम्

बालमुकुंदम् शिरसा नमामि'' और उन्हीं के संरक्षण में नव सृष्टि का विकास संभव हुआ था। अज्ञानांधकार के हरण में महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नहीं होता क्योंकि ''उत्तमतं गुणेहि चेव पविञ्जई''। उत्तमता गुणों से प्राप्त होती है और गुणों की ही पूजा होती है- 'गुणः पूजास्थानं न च लिंग न च वयः।' यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवें पाट के अधिष्ठाता का पद 'नानालाल' को देने की पूर्वपीठिका की दिशा में उन्हें युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी शृंगार बाई का ममताव्याकुल संशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो-'' ई घणा भोला टाबर है, यां पे अतरो मोटो बोझ मती नाखो।''

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है कि चतुर्दिश अंधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा ! वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वतः ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का संकल्प। इस संकल्प की पूर्ति हेतु दीपक का कर्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली में सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत प्रकाशमान हो उठे। इसी संकल्प की पूर्ति में ''नाना दीप'' ने दीपित संत-सतियों की एक सुदीर्घ शृंखला ही सर्जित कर दी थी। एक कड़ी दूसरी कड़ी से जुड़ती गई थी। सम्पूर्ण संसार को अपनी ज्योति-परिधि में आवेष्टित कर लेने के लिये और जगती का आंगन आचार्य श्री के नेश्राय में दीक्षित दीपकों की लम्बी शृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड ऊर्जा का यह असंदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योंकि ज्ञान-साधना और समाज-निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पांच सौ वर्षों में भी सम्पन्न नहीं हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितियां अत्यन्त विषम थी। एक अत्यन्त सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहों से टकराव, विरोधों की उग्रता एवं दुर्बल संघीय व्यवस्था अपने आप में विकट समस्याएं थी। परन्तु ''दिवा समा आयरिया पण्णता''- आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अतः भीषण झंझावात के उस काल में जब श्रमण संघों एवं श्रावक संघों की भावनाएं भीषणरूप से आलोडित थी, इस संघ प्रज्वलित दीपक ने साहस-पूर्वक घोषणा की थी।

''संघर्ष से ही नवनीत निकलता है और संघर्ष ही विपुल शक्ति का

उत्पादक होता है। संघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिह्नों पर नहीं चल सकता।''

और प्रारम्भ हुई थी लड़ाई- दिये की और तूफान की, जिसमें दीया विजयी हुआ था। झंझावत शांत हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मंद फुहारों से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमंगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग में तपने की। संवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी संत अपने-पराये, शत्रु-हानि, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावों से मुक्त होते हैं। सोना तप कर कुन्दन बनता है और संघर्षों में स्थिरमति रहकर मनस्वी वंदनीय बन जाता है।

*मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखं ।  
तप्तं तप्तं पुनरपि पुनः कांचन कान्तवर्णम् ॥*

अशांति, विरोध और संघर्ष से आलोड़ित जन सागर के इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियों का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिंसा, आतंक, विरोध, शोषण पीड़ा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियों के उपचार में यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य संदेशों द्वारा इस संत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुंदर काव्यात्मक दिदर्शना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पंक्तियों में हुई है-

*व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,  
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय ।  
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत ।  
श्रेय मानव का असीमित मानवों से प्रीत ।  
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान ।  
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान ।*

इस व्यवधान को तोड़ने की दिशा में यात्राओं, चातुर्मासों और उद्बोधनों के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था- उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे

प्रभामंडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणें बरसाता इस संपूर्ण जीव-सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवेष्टन में समेट लेने के लिए आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चंदन और संत, भेद-अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह-भंडार सबके लिये उन्मुक्त रखते हैं। फिर इस प्रकाशपुंज की ज्योति सीमा में कैसे बंधती? प्रसंग अनेक हो सकते हैं। परंतु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालों की अटूट शृंखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्तव के मंत्र के प्रभाव से समाज के निम्नत स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो "कम्मणा बम्भणा होइ, कम्मणा होई खत्तिओ।" भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्णव्यवस्था की उपयुक्तता तर्क संगत कहां बैठती थी? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमें गुराड़िया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामों के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहीं जानत, कंचन करत खरो- तब संत के संसर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यों नहीं बन सकते थे? एक राजा भगीरथ ने गंगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा में मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड़ सैद्धान्तिक विचार को सहज जीवन पद्धति में रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी। प्रजातंत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल में उलझी अवधारणाओं को, सरल, व्यावहारिक, उपयोगी जीवनचर्या बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चिंतन को सैद्धान्तिक आग्रहों से तथा धर्म और दर्शन के तत्त्वों को पाखंड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हें अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओं का ही सहज समाधान था। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप में मान्य एवं प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नहीं

थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुननिर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वयं किया एवं करने की प्रेरणा दी। समीक्षण ध्यान की पद्धतियों को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुंचाने में आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से संबंधित विविध चिंतन धाराओं का जिस प्रकार समता दर्शन में समन्वय किया गया, वह स्वयं में उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार संहिता बना सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चामत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को संस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पांच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अधःपतन के मूल कारण हैं। ये ही आत्मा की परमात्मिकता में व्यवधान डालने वाले भी हैं।

*पांच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटे दिवस अरु संझा ।  
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सके कोई ॥*

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढ़पति सिद्ध हुए जो रमैया की दुलहन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नहीं दे सकता था। ऐसे गढ़पति की महिमा का बखान करते हुए संत कबीर ने पहले ही कह दिया था-

*ऐसा अद्भुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषै ।  
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै ॥  
मूसा बैठा बांबि में, लारे सांपणि धाई,  
उलटि मूसै सांपणि गिली यह अचरज भाई ।  
नाव में नदिया डूबी जाई ॥*

आकाश के आँधे कुएं से पाताल की पनिहारिन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हंस ही पीता है।

यह उलटबांसी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान है जिसके आलोक में यह चराचर जगत किसी रूप में अर्थवान बनता है। एक नन्हे दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती में विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/175

अपने सहज समत्व ज्ञान से, दीपित कर धरती का आंगन ।  
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन ॥

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़तमा है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य में निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण करता है और अपने पीछे छोड़ जाता है एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की संध्यावंदन करते साधकों ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुनः आकाश मार्ग से लौट गई थी !! यह चमत्कार था और हम जानते हैं, चमत्कार होते हैं। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् दर्शन का ही नहीं, संपूर्ण जीवचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड़ गया जिसमें भव्य आत्माएं आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती हैं।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्वलित कर गया है.....रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ़ कंधों पर वहन करने में पूर्ण सक्षम है..... दीप की आदित्य बनने की दिशा में एक और यात्रा प्रारंभ हो गई है। साधुमार्ग में यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परंपरा में आदित्य बने दीप प्रमाणित कर गये हैं। इस प्रकार अनंत आलोक का पारावार हिलोरें लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह पांच सौ वर्षों तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

-डा. आदर्श सक्सेना

बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज.)

## भूमिका

### गुणस्थान : एक दृष्टि

आत्म-विकास अथवा चारित्र-विकास की विभिन्न अवस्थाओं को जैन ग्रंथों में चौदह भागों में विभाजित किया गया है जो चौदह गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये जैनाचार के चतुर्दश सोपान अर्थात् जैन चारित्र की चौदह सीढ़ियाँ हैं। साधक को इन्हीं सीढ़ियों से चढ़ना-उतरना पड़ता है। आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, ज्ञानमय व परिपूर्ण सुखमय है। इसे जैन पदावली में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन व अनंतवीर्य कहा जाता है। इस स्वरूप को विकृत अथवा आवृत्त करने का कार्य कर्मों का है। कर्मावरण की घटा ज्यों-ज्यों घनी होती जाती है त्यों-त्यों आत्मिक शक्ति का प्रकाश मंद होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्मों का आवरण हटता जाता है अथवा शिथिल होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति प्रकट होती जाती है। आत्मिक शक्ति के प्रकाश की अल्पतम प्रगट अवस्था प्रथम गुणस्थान है। यह प्रकाश अत्यन्त मंद होता है। आगे के गुणस्थानों में यह प्रकाश क्रमशः बढ़ता जाता है। अंतिम अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में आत्मा अपने असली रूप में पहुँच जाती है।

जैन चिंतन के अनुसार अनादिकाल से अपने ही स्वभाव से गतिमान यह सृष्टि-प्रपंच जीव और पुद्गल इन दो प्रमुख तत्त्वों की अनवरत क्रीड़ा है, जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूलकर, जड़ पुद्गल पर नाना प्रकार का सुख-दुःखात्मक अभिनय करता रहता है। इस सारे अभिनय में जीवात्मा स्वयं ही कर्ता है, स्वयं ही भोक्ता है, स्वयं ही बद्ध होता है और स्वयं ही मुक्त होता है। इस मुक्ति-पथ पर प्रथम आरोहण करने से लेकर मोक्ष के सर्वोच्च शिखर पर सफलतापूर्वक



पहुँचने का जो क्रम है वह गुणस्थान सोपान है। उसमें राग द्वेष मोह के कठिन पाश और तज्जन्य गहन अनादि अज्ञानांधकार से जो बाधाएं एवं कठिनाइयां आती हैं। उसको पार कर जीव कैसे आगे बढ़ता है, वही उसका आध्यात्मिक विकास क्रम अथवा गुणस्थान का आरोहण है।

इस गुणस्थान के आरोहण क्रम में साधक जीव के सदगुणों में निरंतर अभिवृद्धि होती है और पग-पग पर भावात्मक दृष्टि से आत्मा में जो परिवर्तन होते हैं, वैसा ही गुणस्थानों की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विकास होता है। आत्मविकास के ये चरण प्रतिसमय असंख्य या अनंत हो सकते हैं, तथापि जैन कर्म सिद्धांत में कर्म तथा कषायों के क्षय की दृष्टि से प्रमुख रूप से चौदह चरण या अवस्थाएं मानी गई हैं। इन्हीं को चौदह गुणस्थान कहा गया है।

गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास और औदयिक आदि भावों में परस्पर आधार-आधेय, स्वरूप-स्वरूपवान अथवा धर्म-धर्मी संबंध होने से मार्गणा के कथन से गुणस्थान अथवा जीवसमास और जीवसमास के कथन से गुणस्थान का ग्रहण होता है। दिग. परंपरा के प्राचीन ग्रंथ षट्खण्डागम में स्थल-स्थल पर गुणस्थानों के स्थान पर जीवसमास तथा मार्गणाओं का प्रयोग किया गया है। इसमें चौदह जीवसमासों को चौदह गुणस्थान समझना चाहिये।<sup>1</sup>

किसी-किसी स्थल में गुणस्थान के बदले मार्गणा शब्द का भी प्रयोग हुआ है, अथवा मार्गणा विशेष है और गुणस्थान सामान्य है, सामान्य एवं विशेष को छोड़कर कोई तीसरा द्रव्य नहीं है। क्योंकि सामान्य है कहने से विशेष और विशेष कहने से सामान्य का ग्रहण हो ही जाता है। सत्, संख्या आदि अनुयोग द्वारों से युक्त चौदह जीवसमास जिसके द्वारा या जिसमें खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं-

*जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तथा दिट्ठा ।*

*ताओ चौदस जाणे सुदणाणे मग्गणा होंति ॥*

-श्रुतज्ञान अर्थात् परमागम में जीव पदार्थ जिस प्रकार देखे गए हैं, उसी प्रकार उनकी जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में अनुमार्गणा की जाती है अर्थात् खोजा जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

प्राचीन श्वेतांबर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं

---

1. चतुर्दशानां जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः ध., 1/1 /2/131

मिलता। समवायांग में गुणस्थान के स्थान पर जीवस्थान शब्द आता है। सर्वप्रथम गुणस्थान शब्द का प्रयोग आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में मिलता है। प्राकृत पंचसंग्रह, कर्मग्रंथ में गुणस्थान शब्द का उल्लेख हुआ है। गोम्मटसार में गुणस्थान को जीवसमास भी कहा गया है।

जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताया गया है। मिथ्यात्व से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक कोई जीव जिन आध्यात्मिक दशाओं में से होकर निकलता है उन दशाओं को गुणस्थान कहा जाता है। आत्मा के स्वाभाविक गुणों के विकास और ह्रास की दशाएं भी अनंत हैं फिर भी अनुभवी ज्ञानियों ने कई प्रकार से उन दशाओं का वर्गीकरण करके, उन्हें समझाने का प्रयत्न किया है। एक वर्गीकरण के अनुसार विकासदशा की दृष्टि से आत्माएं तीन प्रकार की होती हैं-

1. बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) 2. अन्तरात्मा (सम्यदृष्टि) और 3. परमात्मा (सर्वदर्शी)

जैन शास्त्रों में इन तीन प्रकार की आत्माओं को अध्यात्मिक विकास की चौदह भूमिकाओं (गुणस्थान) द्वारा विस्तार से समझाया गया है। पहली से तीसरी भूमिका तक का जीव बहिरात्मा कहलाता है। सामान्यतया चौथी से बारहवीं भूमिका वाले को अंतरात्मा और तेरहवीं तथा चौदहवीं भूमिकाओं को प्राप्त जीवों को परमात्मा कहा गया है। योगवाशिष्ठ जैसे वेदांत ग्रंथों में भी मनुष्यों की ज्ञान व अज्ञान दोनों की सात-सात दशाएं बताकर मानव-आत्मा के विकास की चौदह भूमिकाओं का निर्धारण किया गया है।

शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, गुण, स्वभाव, प्रकृति और शील ये शब्द एकार्थवाची हैं। इस प्रकार का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है। यहां पर आत्मा के उदयादि परिणामजन्य गुणात्मक अवस्थाओं, दशाओं या स्थानों को गुणस्थान कहा गया है-

*जेहि दु लक्खिजंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि ।*

*जीवा ते गुण-सण्णा णिदिट्ठा सव्वदरिसीहि ॥'*

संसार में जीव मोहनीय कर्म के उदय, उपशम आदि अवस्थाओं के अनुसार उत्पन्न हुए परिणामों, भावों या अवस्थाओं से युक्त दृष्टिगोचर होते हैं, इन परिणामों को केवलज्ञानी ने गुणस्थान संज्ञा प्रदान की है।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/179

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसदम्मो य देसविरदो य ।

विरदा पमत्त इयरो अपुब्ब-अणियट्ठ सुहमो य ॥

उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगो य ।

चउदस गुणठाणाणिय कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥<sup>1</sup>

1- मिथ्यात्व, 2- सासादन, 3- सम्यग्मिथ्यात्व, 4-अविरत सम्यग्दृष्टि, 5-देशविरत, 6-प्रमत्तविरत, 7-अप्रमत्तविरत, 8-अपूर्वकरण, 9-अनिवृत्तिकरण, 10-सूक्ष्मसम्पराय, 11-उपशान्तमोह, 12-क्षीणमोह, 13-सयोगकेवली एवं 14-अयोगकेवली, इस प्रकार क्रमशः ये चौदह गुणस्थान कहे गये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय ज्ञातव्य है :-

1. **मिथ्यात्म गुणस्थान** : मोहनीय कर्म के एक भेद मिथ्यात्व के उदय से जो जीव अपने हिताहित का विचार नहीं कर सकते, अथवा विचार कर सकने पर भी ठीक विचार नहीं कर सकते वे जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। उनकी आत्मा की अवस्था प्रथम गुणस्थान वाली कही गयी है।

2. **सासादन गुणस्थान** : द्वितीय गुणस्थान का नाम सासादन सम्यग्दृष्टि है। जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता उसकी अवस्था को सासादन गुणस्थान कहा है। औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होता हुआ सम्यक्त्व का आसादन (विराधन) करता है इसलिए उसे सासादन कहा गया है।

3. **सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान** : जिसकी दृष्टि मिथ्या और सम्यक् दोनों परिणामों से मिश्रित है वह सम्यक्मिथ्यादृष्टि या मिश्र दृष्टि कहलाता है।

4. **अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान** : जिस जीव की दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और जीव सम्यग्दृष्टि तो होता है किन्तु संयम नहीं पालता, वह असंयत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। कहा भी है-

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा वि ।

जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अवरिदो सो ॥

-गोम्मटसार जीवकांड, गाथा 29 ।

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/180

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव देव-गुरु संघ की सद्भक्ति करता है, जिन शासन की उन्नति करता है, अतः वह शासन प्रभावक श्रावक कहा जाता है।

5. **देशविरत गुणस्थान** : देशविरत सम्यग्दृष्टि नामक पांचवें गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मशक्ति और विकसित होती है। वह पूर्णरूप से तो सम्यक्चारित्र की आराधना नहीं कर पाता किन्तु आंशिक रूप से उसका पालन अवश्य करता है। देशविरत को आगमों में विरताविरत भी कहा गया है। षट्खण्डागम में इसे संयतासंयत लिखा है। व्रती गृहस्थों को ही संयतासंयत कहते हैं।

6. **प्रमत्तसंयत** : जो पूर्ण संयम को पालते हुए भी प्रमाद के कारण उसमें कभी-कभी कुछ असावधान हो जाते हैं उन मुनियों की अवस्था को प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

7. **अप्रमत्तसंयत** : इस गुणस्थान में अवस्थित साधक प्रमाद से रहित होकर आत्म-साधना में लीन रहता है, इसलिए इसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा गया है। जब साधक में आत्म तल्लीनता होती है तब वह सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और प्रमाद का उदय आने पर छठे गुणस्थान में चला जाता है।

8. **अपूर्वकरण** : करण शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। ध्यान में मग्न जिन मुनियों के प्रत्येक समय में अपूर्व परिणाम यानी भाव होते हैं उन्हें अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहा जाता है। इस गुणस्थान में न तो किसी कर्म का उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु उसके लिए तैयारी होती है। जीव के भाव प्रति समय उन्नत, उन्नतर होते चले जाते हैं।

9. **अनिवृत्तिबादर** : अनिवृत्ति का अर्थ विभेद है। अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के एक समयवर्ती जीवों की परिणामविशुद्धि समान ही होती है। इसलिए यह समान परिणाम विशुद्धि का गुणस्थान है। इस कारण इस गुणस्थान का नाम अनिवृत्तिबादर गुणस्थान है। इसे अनिवृत्तिबादर साम्पराय अथवा बादर साम्पराय (कषाय) भी कहते हैं।

10. **सूक्ष्म साम्पराय** : इस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभरूप कषाय का ही उदय रहता है। अन्य कषायों का उपशम या क्षय हो जाता है। जैसे धुले हुए कुसुममी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है। इसी प्रकार इस गुणस्थान में लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से रह जाता है।

11. **उपशांत कषाय** : उपशांत कषाय वीतराग छद्मस्थ-उपशम श्रेणि पर चढ़ने वाले ध्यानस्थ मुनि जब उस सूक्ष्म कषाय को भी दबा देते हैं तो उन्हें

उपशान्त कषाय गुणस्थान वाला कहते हैं। इस गुणस्थान में वीतरागता तो आ जाती है किन्तु ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म उपस्थित रहते हैं। अतः वीतरागी बन जाने पर भी वह साधक छद्मस्थ या अल्पज्ञ माना जाता है, सर्वज्ञ नहीं।

12. **क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ** : क्षपक श्रेणि पर चढ़ने वाले मुनि मोह को धीरे-धीरे नष्ट करते-करते जब सर्वथा निर्मूल कर डालते हैं तो उन्हें क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं। इस अवस्था का नाम क्षीणमोह, क्षीणमोह वीतराग या क्षीण कषाय है। इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का पतन नहीं होता।

13. **सयोगकेवली** : समस्त मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर बारहवां गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्म के चले जाने से शेष कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है अतः बारहवें के अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मों का नाश करके क्षीणकषाय मुनि सयोगकेवली हो जाता है। जब तक केवली के मन, वचन और काय का व्यापार रहता है तब तक वे सयोगकेवली कहलाते हैं।

14. **अयोग केवली** : जब केवली ध्यानस्थ होकर मन, वचन और काय का सब व्यापार बंद कर देते हैं तब उन्हें अयोग-केवली कहते हैं। ये अयोगकेवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मों को भी ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा भस्म करके समस्त कर्म और शरीर के बंधन से छूटकर मोक्ष लाभ करते हैं। यह गुणस्थान चारित्र्य विकास और आत्म-विकास की चरम अवस्था है।

जैन परंपरा में कर्मसिद्धान्त पर बहुत सूक्ष्म, गंभीर और विस्तृत प्रकाश डाला गया है। पुद्गल (मैटर) द्रव्य की अनेक जातियां हैं जिन्हें जैन परिभाषा में वर्गणाएं कहते हैं। उनमें एक कार्मण-वर्गणा भी है और वही कर्म-द्रव्य है। कर्म-द्रव्य संपूर्ण लोक में सूक्ष्म रज के रूप में व्याप्त है। वे कर्म-पुद्गल अथवा कर्म-परमाणु योग (अर्थात् काय, वाक्, मन की क्रिया) के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं। उन्हीं को कर्म कहते हैं और वे जीव के संसार बंध के कारण हैं। कर्म विजातीय द्रव्य होने के कारण आत्मा में विकृति उत्पन्न करते हैं और उसे पराधीन बनाते हैं। आत्मा पर-पदार्थों का उपभोग करता हुआ राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दुःखरूप मानता है। दुःख-सुख की वह अनुभूति तो तत्काल समाप्त हो जाती है किन्तु अवशिष्ट रहे हुए कर्मरूप संस्कार समय आने पर अपना प्रभाव डालते हैं।

संसार के प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे-राग द्वेष की वृत्ति काम करती है। वही प्रवृत्ति अपना एक संस्कार छोड़ जाती है। उस संस्कार से पुनः प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुनः संस्कार का निर्माण होता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की तरह यह सिलसिला सनातन काल से चला आ रहा है। इन्हीं रागद्वेषादि भावों एवं कर्म प्रकृतियों के बंध, स्थिति, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम व निर्जरा आदि के अनुरूप ही गुणस्थान होते हैं।

गुणस्थानों का कर्मों के साथ अनिवार्य संबंध है। क्योंकि उनके क्रमिक क्षय, उपशम व क्षयोपशम के अनुसार ही गुणस्थानों की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, वास्तव में ये चारों मोहनीय के ही विशेष भेद हैं। अथवा मोहनीय के कारण ही इनका अस्तित्व रहता है। जब तक मिथ्यात्व प्रकृति पूर्ण उदय में रहती है, तब तक जीव प्रथम गुणस्थान में ही पड़ा रहता है, इससे आगे नहीं बढ़ता। मिथ्यात्व के क्षय, उपशम व क्षयोपशम होने पर चौथे गुणस्थान तक आगे बढ़ता है, परन्तु अविरति के प्रभाव से अर्थात् संयम धारण न करने से यहीं ठहर जाता है। देशविरति धारण करके पंचम गुणस्थान और पूर्णविरति (महाव्रत) के द्वारा छठे गुणस्थान को प्राप्त करता है, परन्तु प्रमाद पर पूर्ण विजय किए बिना आगे नहीं जा सकता। सातवें गुणस्थान में प्रमाद विजय कर लेता है और यहाँ से क्रमशः कषायों तथा अन्य कर्म-प्रकृतियों का क्षय करते हुए बारहवें गुणस्थान तक जाता है। तेरहवें गुणस्थान के अंत में योग का भी पूर्ण क्षय हो जाता है। गुणस्थानों के अध्ययन में कर्म-मीमांसा अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसी कारण जैन ग्रंथों में कर्म के संबंध में विशद व्याख्या, चर्चा मीमांसा उपलब्ध होती है।

गुणस्थानों का मुख्य कारण मोहनीय कर्म हैं क्योंकि गुणस्थानों की उत्पत्ति मोह और योग के निमित्त से होती है। उनमें मुख्य तो मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम व क्षय भी गुणस्थानों के अनुसार ही होता है। सातवें गुणस्थान के बिना मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं हो सकता तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतरायकर्म का क्षय हुए बिना तेरहवें गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुणस्थानों के अनुसार ही कर्मों की बंध व्युच्छित्ति, उदय व्युच्छित्ति, सत्व व्युच्छित्ति, उदीरणा व्युच्छित्ति होती है। गुणस्थानों के क्रमानुसार ही कर्मों का संवर और निर्जरा होती है। अतः गुणस्थानों में कर्मों का वर्णन किया है। दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों का उदय रहता है। बारहवें गुणस्थान तक सात कर्मों का उदय रहता है, चौहदवें गुणस्थान तक चार कर्मों का उदय रहता है।

गुणस्थान और ध्यान का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। ध्यान के अभ्यास और उसमें स्थिरता आए बिना किसी जीव का गुणस्थान रूपी सोपान पंक्ति पर प्रथम पदक्षेप भी संभव नहीं है। इस कारण षट्खंडागम में गुणस्थानों के संदर्भ में ध्यान की भी चर्चा की गई है। जैसे-जैसे किसी जीव का मोहावरण क्षीण होता है और योगों में स्थिरता आती है, उसी अनुपात में ध्यान में चित्त की लवलीनता बढ़ती है और उसी के साथ गुणस्थानों में आरोहण आरंभ होता है। गुणस्थानों की चर्चा में आध्यात्मिक विकास का क्रम मुख्य है तथा ध्यान का वर्णन मुख्यतः मोक्ष के साधन के रूप में किया जाता है। इसी कारण दोनों का प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् होने पर भी, एक का विचार करते समय, दूसरे की छाया अवश्य आती है, क्योंकि कोई भी आत्मा साधन के बिना या अधूरे साधनों से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। गुणस्थान-आरोहण में आत्मा के लिए ध्यानरूपी साधक की अनिवार्यता है। जैन सिद्धांत ग्रंथों में ध्यान को ही मोक्ष का उपादान कारण और इसी को योग संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।

ध्यानों का गुणस्थानों के साथ अनिवार्य संबंध है। धर्मध्यान का स्पर्श किए बिना आत्मविकास के सोपान-गुणस्थानों पर आरोहण नहीं होता है और शुक्ल ध्यान के बिना श्रेणी आरोहण कर जीव कर्मक्षय करके अर्हत अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता और अंतिम शुक्ल ध्यान के बिना सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। परमागम के अवलोकन से ज्ञात होता है कि गुणस्थानों के साथ ध्यान का कितना घनिष्ठ संबंध है। ध्यान के बिना गुणस्थान और गुणस्थान के बिना ध्यान नहीं होता। जिसके राग, द्वेष मोह नहीं है तथा जो मन, वचन, काय-रूप योगों के प्रति उपेक्षा बुद्धि वाला है, उस जीव के शुभाशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

*जस्सण विज्जदि रागो दोसो मोहो ण योग परिकम्मो ।*

*तस्स सुहासुह-डहणो ज्ञाणमओ जायए अग्गी ॥*

-पंचास्तिकाय, गा. 146

संवर का मुख्य साधन समाधि है। संवर एवं निर्जरा सम्यक् रत्नत्रय-पूर्वक होते हैं और इन तीनों की एकता ही समाधि है। अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र में सम्यक् अवस्थान या स्थिति का नाम समाधि है। रत्नत्रय से ही आत्मोत्थान होता है, गुणस्थानों के प्रकरण में जिसे विशुद्धि परिणाम कहा जाता है, उसे ही समाधितंत्र जैसे अध्यात्म ग्रंथों में समाधि कहा है। ध्यान और समाधि एक होते हुए भी, इन दोनों में कथंचित् भेद भी है। जहां पर भेद रूप वर्णन किया जाता

है, वहाँ यह ध्यान है और जहाँ आत्मा की अभेद दशा की चर्चा है, अर्थात्, जहाँ ध्यान, ध्याता व ध्येय का कोई विकल्प नहीं रहता, उसे समाधि की उत्कृष्ट दशा कहते हैं।

सल्लेखना मरण का भी गुणस्थानों के साथ अनिवार्य संबंध है। सल्लेखना में मुख्यतया कषायों को कृश करना है और कषायों का कृशपना गुणस्थानों के अनुसार होता है। अनंतानुबंधी कषाय के उदय में (प्रथम गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान तक) तो सल्लेखना मरण हो नहीं सकता। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका है परंतु चारित्र की घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से त्यागमय भावना नहीं हो सकती, अतः सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान में सल्लेखना मरण नहीं कर सकता। पंचम गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म का कुछ विशेष क्षयोपशम होने से एकदेश सल्लेखना मरण है, पूर्ण रूप से नहीं। पूर्ण रूप से सल्लेखना मरण छठे गुणस्थान से प्रारंभ होता है। अतः गुणस्थानों के साथ सल्लेखना/समाधि का भी घनिष्ठ संबंध है। सल्लेखना शब्द का प्रयोग जैनधर्म में ही है। समाधि का प्रकरण तो अन्य दर्शनों में भी है।

संसार के सब जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकास के तारतम्य के कारण गुणस्थानों में बंटे हुए हैं। इनमें से शुरू के चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देव सभी के होते हैं। पांचवां गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्यों के होता है। पांचवें से आगे के सब गुणस्थान साधुजनों के ही होते हैं। उनमें से सातवें से बारहवें तक के गुणस्थान आत्मध्यान में लीन साधु के ही होते हैं और उनमें से प्रत्येक गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त (एक मुहूर्त से कम) होता है।

गुणस्थान स्वरूप और विश्लेषण पुस्तक के प्रणेता प्रवचनकार समताविभूति, समीक्षण ध्यानयोगी, तपस्वी साधक आचार्य श्री नानेश स्वयं आत्मिक विकास मार्ग के सुचेता पथिक हैं। आपने ज्ञान, साधना और चारित्रिक विकास को ही जीवन का लक्ष्य बनाया है। आपके अनुभूत स्वाध्याय की फलश्रुति है- प्रस्तुत पुस्तक। इसमें आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के साथ गुणस्थानों के स्वरूप का निरूपण किया गया है। कर्म सिद्धांत, ध्यान, योग आदि के साथ भी गुणस्थानों की व्याख्या अभिनव शैली में उपस्थित कर आपने जैन दर्शन के जिज्ञासु पाठकों को स्वाध्याय की सत्प्रेरणा दी है।

**प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन**

अधिष्ठाता, आर्ट्स कॉलेज,

सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर



विषयानुक्रमणिका

आत्मा शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ	02
गुणस्थान की परिभाषा	04
प्रथम अधिकार : गुणस्थान स्वरूप	04
(1) मिथ्या दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप,	
(2) सास्वादन गुणस्थान का स्वरूप,	
(3) मिश्र दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप,	
(4) अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान का स्वरूप,	
(5) देश विरति गुणस्थान का स्वरूप,	
(6) प्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप,	
(7) अप्रमत्त संयत गुणस्थान का स्वरूप,	
(8) निवृत्ति बादर गुणस्थान का स्वरूप,	
(9) अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान का स्वरूप,	

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/186

- (10) सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान का स्वरूप,
- (11) उपशात कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप,
- (12) क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान का स्वरूप,
- (13) सयोगी केवलि गुणस्थान का स्वरूप,
- (14) अयोगी केवलि गुणस्थान का स्वरूप

द्वितीय अधिकार : काय स्थिति	78
तृतीय अधिकार : योग	80
चतुर्थ अधिकार : लेश्या	82
पंचम अधिकार : कारण	82
षष्ठम अधिकार : बन्ध हेतु	83
सप्तम अधिकार : बन्ध	84
अष्टम अधिकार : सत्ता	89
नवम अधिकार : उदय	93
दशम अधिकार : उदीरणा	97
एकादश अधिकार : निर्जरा	99
द्वादश अधिकार : भाव	99
त्रयोदश अधिकार : उपयोग	100
चतुर्दश अधिकार : जीव योनि	101
पंचदश अधिकार : आत्मा	101
षोडश अधिकार : दण्डक	101
सप्तदश अधिकार : भेद	102
अष्टदश अधिकार : सम्यक्त्व	102
एकोनविंशति अधिकार : परीषह	102
विंशति अधिकार : चारित्र	104

गुणस्थान : स्वरूप और विश्लेषण/ 187

एकविंशति अधिकार : ध्यान	104
द्वाविंशति अधिकार : दशा	109
त्रयोविंशति अधिकार : शाश्वत-अशाश्वत	110
चतुर्विंशति अधिकार : अन्तर	111
पंचविंशति अधिकार : अल्पबहुत्व	112
ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट (अ)	114
ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट (ब)	116
ग्रन्थागत परिभाषा परिशिष्ट (स)	155
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	158